निशीथ

एवं

अन्य कविताएँ

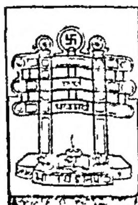
मूल-कृति

उमाशंकर जोशी

रूपान्तर

रघुवीर चौधरी

भोलाभाई पटेल



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला ग्रन्थांक २७३
सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokoday Series Title No 273
NISHEETH EVAM ANYA KAVITAEN
(Poems)
Umashankar Joshi
Bharatiya Jnanpith Publication
First edition 1968
Price *10-00*

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
प्रधान कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता २७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड रोड वाराणसी
विक्रय कार्यालय
३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग दिल्ली ६
प्रथम संस्करण १९६८
मूल्य १० ००

मुखपृष्ठ
जनक पटेल

शान्तिलाल
नवजीवन

दिवंगत

ज्योत्स्ना

को

•

हृदयगत द्युतिस्पर्श से ही

अब जीना है

तु मानवोनी मनोमत्तिकामा
स्वप्नो केरा वावनो बी अनरा

प्रस्तुति

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रवर्तित साहित्य-पुरस्कारसे सम्मानित गुजराती काव्यकृति 'निशीथ' हिन्दी रूपान्तरणके माध्यमसे कृतिकार श्री उमाशकर जोशीके कृतित्वका समुचित परिचय दे सके, इस दृष्टिसे प्रस्तुत सकलन 'निशीथ एव अन्य कविताएँ' शीर्षकसे हिन्दीके पाठकोको समर्पित करते हुए हमें विशेष प्रसन्नता हो रही है।

२० दिसम्बर १९६८ को दिल्लीके विज्ञान-भवनमें आयोजित पुरस्कार समर्पण समारोहके कार्यक्रमका विशिष्ट अग है, इस कृतिका ग्रन्थिविमोचन। १९६६ के समारोहके अवसर पर महाकवि जी. शंकर कुरूपकी मलयालम काव्यकृति 'ओटक्कुपल' का हिन्दी अनुवाद विमोचित हुआ था और १९६७ के समारोहमे श्री ताराशकर वन्द्योपाध्यायके पुरस्कृत वंगला उपन्यास 'गण-देवता' का। ये प्रकाशन जहाँ हमे भारतीय साहित्यके मान-दडका, उसकी सर्वोच्च उपलब्धिका, परिचय कराते हैं वहाँ हमें इस वातकी भी प्रतीति देते हैं कि

भारतीय साहित्य परिकल्पनामें, प्रभावाकी प्रतिक्रियामें, विषय-वस्तुमें, रसानुभूतिमें, और यहाँ तक कि सांस्कृतिक-अभिव्यक्तिकी वाहक शब्द-संपदामें समग्र रूपसे संपृक्त है। भाषाएँ विभाजित नहीं करती, इन तत्त्वोंके माध्यमसे एक दूसरेको जोडती है।

गुजरातीमें 'निशीथ' का प्रकाशन-वर्ष १९३९ है, किन्तु इस संग्रहकी कविताओंका सर्जन-काल १९३० से प्रारंभ होता है। इस युगके राष्ट्रीय चिन्तनने अन्तराष्ट्रीय घटनाओंकी प्रतिक्रियाने देशकी मनीषाको जिस रूपमें और जिन आयामोंमें प्रभावित किया है, उसका मार्मिक प्रतिफलन इन कविताओंमें मुखरित हुआ है। इस हिन्दी-संस्करणमें एक पृथक खंड कुछ पूर्व और पर-वर्ती कविताओंके संकलनका है, ताकि कविकी काव्य प्रतिभा शिल्प विधान विषयगत वैविध्य और एक ही भावकी बहुरूपी व्यंजनाका परिचय प्राप्त हो सके।

सन् १९३१ में लिखी 'विश्वशान्ति' कविताकी केंद्रीय कवि-दृष्टि कि शान्ति केवल अहिंसाके मार्गसे प्राप्त हो सकती है 'निशीथ' में अधिक स्पष्टता के साथ परिभाषित हुई है।

श्री उमाशंकरकी भाव चेतना बाह्य जगतसे रूपायित होना है और वह समरागात्म स्थिति-बोधसे अंतसम्पृक्त है। आदर्श और यथार्थके बीच अद्भुत रूपसे सन्तुलित उनका काव्य परम्परागत गीतात्मकता और निरी आशावादिताकी सीमा से ऊपर उठकर मानव-चेतनाके उदात्त शिखरों पर आरोहण करता है। यद्यपि उनके काव्यका मूल उत्स हमारी परम्परामें परिनिष्ठित है और वह उसके मूल्योंसे समृद्ध है किन्तु सर्जनात्मक और समीक्षात्मक प्रभाव अद्भुत तादात्म्यके कारण वह वास्तविक अर्थोंमें आधुनिक है।

प्रा० विष्णुप्रसाद त्रिवेदीके शब्दोंमें सुकुमार हृदय तेजस्वी बुद्धि समर्थ कल्पना उदात्तताय चिन्तन और समृद्ध व्यक्तित्वका परिचय 'निशीथ' में व्यक्त है।

'निशीथ' में संकलित कविकी एक विशिष्ट रचना है 'आत्माना खंडेर'। यह ७० चतुर्दशियोंकी एक शृंखलित इकाई है जो इस संग्रहकी सर्वोत्तम रचना भी है। इसमें कवित एक ऐसे युवकका आर-करण अनुभूति का वाणी दी है जो विश्वविजयकी साध लेकर आया पर उसके खण्डहर देखनेको बाध्य होता है। कविताकी अन्तिम पंक्तियाँ उमाशंकरकी सबसे सुन्दर पंक्तियाँ हैं शायद गुजराती भाषाकी सबसे सुन्दर पंक्तियोंमें से

असुख नही दमते मुझे, जितने कि वितथ सौख्य चुभते,
नही रुचते सुख, जैसे रुचते समझमे उतरे दु.ख,
यथार्थ ही सुपथ्य एक, समझते रहना होगा जो शक्य,
अनजान रमना क्या? यातनाके मोल भी समझना ही इष्ट।

नि सन्देह, अनुवादकी अपनी सीमाएँ है। यह विशेप रूपसे तव स्पष्ट हो जाता है जव वाये पृष्ठ पर देवनागरी लिपिमे उद्धृत मूल गुजराती कवितासे मिलान करते है। कविकी कई उत्तम गीत-रचनाएँ तो अनुवादकोको छोड देनी पडी। छन्द की लय, प्रासकी माधुरी और भावोकी क्षेत्रीय व्यजना अनुवादमे लाना कैसे सभव हो? फिर भी श्री रघुवीर चौधरी और श्री भोलाभाई पटेलने प्रत्येक कविताकी भाव-सपदाको सप्रेपित करने और अनुवादको एक गद्यात्मक लय देनेका पूरा प्रयत्न किया है। सग्रहकी प्रथम कविता 'निशीथ' को, श्रीमती मदालसा श्रीमन्नारायण द्वारा प्रस्तुत प्रारूप के आधार पर अन्तिम रूप देनेका सुख मुझे इन वन्धुओके सहयोगसे प्राप्त हुआ। 'निशीथ' की अन्य कविताओको अनुवादके माध्यमसे समझने और सशोधन-सुझाव आदिके विनिमयका सतोप भी मुझे उमाशकर भाईके साथ कुछ दिन रहकर प्राप्त हुआ है।

डॉ प्रभाकर माचवेने 'स्वर्गीय वडेभाई', 'पाचाली' तथा अन्य रचनाओ का अनुवाद भेजकर कार्यमे शीघ्रता लानेमे स्तुत्य सहयोग दिया है। दोनो अनुवादक डॉ रामदरश मिश्र के साथ वैठकर अनुवादकी पाण्डुलिपि पढ चुके है। डॉ रणवीर उपाध्यायसे भी उन्हे इस प्रकारका सहयोग प्राप्त हुआ है। इन तीनो विद्वानो के प्रति मै कृतज्ञताका भाव व्यक्त करता हूँ।

पुरस्कार-समर्पण समारोहके अवसर पर ही ज्ञानपीठ श्री उमाशकर जोशीकी दो अन्य कृतियोका अनुवाद भी प्रकाशित कर रही है—'प्राचीना' एव 'श्री अने सौरभ' का। 'प्राचीना' मे कविकी सात पद्य-नाटचात्मक रचनाएँ 'कर्ण-कृष्ण', '१९ वे दिनका प्रभात', 'गाधारी', 'वालराहुल', 'रति-मदन', 'आशका' और 'कुब्जा' सकलित है। गुजराती काव्य-साहित्यमे इस कृतिका विशिष्ट स्थान है। 'श्री और सौरभ' निवन्ध-सग्रह उमाशकर जोशीके उस चिन्तक, समीक्षक और अध्येता व्यक्तित्वसे आल्हादकारक परिचय कराता है, जिसने प्राचीन भारतीय साहित्यकी प्रभूत काव्य-ऋद्धिको, उसकी अन्तर्दृष्टिको, जिज्ञासुकी उत्सुकतासे समझा है, मनीषीकी दृष्टिसे परखा है और कविकी भावानुभूतिसे सप्रेपित किया है।



कविता, आत्माकी मातृभाषा

कॉलेजका मेरा पहला वरस था। दिवालीकी छुट्टियाँ शुरू होते ही पद्रह रुपए मँगनी पर लेकर हम तीन मित्र अहमदावादसे आवु जानेके लिए गाडीमे वैठे। गाडीसे आवुरोड तो पहुँचे, पर फिर पहाड चढे चल कर, उतरे और वतनका सौ मील जितना डूँगरमालासे गुजरता विकट मार्ग भी पैदल ही काटा।

मूलमे मै डूँगरोका। उत्तर गुजरातके मेरे गाँवमे मेरे घरके पीछे ही डूँगर है। परन्तु अर्वुदगिरिका अनुभव मुझे प्रकृति-प्रेममे लहराता ही रहा। शरद पूर्णिमाकी रात्रि थी। काव्यदीक्षाके लिए तरसते तरुण चित्तको अर्वुदगिरिकी पर्वतश्रीने शरद पूर्णिमाके प्रफुल्ल आलोकमे वन्य मत्र दिया

सौन्दर्यो पी . उरझरण गाशे पछी आपमेळे.

—हम पहाड मुह खोल कर पानी पीते दिखाई नही देते हम पर पानी पडते ही लुढक जाता दीखता है फिर भी चुपचाप हम हमारे भीतर उस सगृहीत कर लेते हैं। भीतर पानीका पर्याप्त सचय हुआ कि फिर चाहे शिलाएँ कैसी भी क्या न हो उनके द्वार तोड कर निर्झर अपने आप बाहर फूट आता है। मानो हमारा—कठोर पर्वतोका हृदय ही गाने लग गया हो! विश्वमें सौन्दर्यकी सतत धारा वर्षा हो रही है। तू न यदि उसे भीतर उतारा होगा तो फिर तेरा उरनिर्झर अपने आप गाने लग जाएगा।

उस समय काव्यजीवनका आरभ करनेके लिए यह मत्र पर्याप्त था।

गुजरात कालेजकी पत्रिकामें वह कविता छपी। उस समय मै सस्कृतमें भी रचनाए किया करता। इस राह पर चढ गया इण्टरके वर्गमें सस्कृतके अध्यापकने कीट्सकी 'ला बेल दाम सा मर्सी' की दो कडियोका अनुवाद कर लानेके लिए कहा इस परसे। अनुवाद करते समय सस्कृत भाषाकी भरपूर साधनसज्जता (*resourcefulness*) का मुझे अनुभव हुआ।

लब्ध्वा क्वचिद्रघुपतिः ललिता स्थलीषु
उन्मत्तचारुदृगमीक्षितवान् सुबालाम्।
तत्कण्ठभूषणमदः कृतवांश्च मालां
काञ्ची च सौरभवतीमपि कङ्कण च॥
बद्धभावेव मय्यपा दृष्टिं चिक्षेप कामिनी।
ततो दीर्घ च नि श्वस्य मुग्धया चित्रवत स्थिता॥

अन्तिम चरण मने जोडा था। बादमें 'तनोपश्य गिरिपथचरस्त्वा भ्रमन्तो मुखेन'—इन शब्दोसे आरभ होती सावरमतीसे उद्बोधन 'सुधा ऽ स्वाद मत्त स्मित नाट्य याचे तन्मिलिपिता सतु बहन'—य प्रणयोद्गार आदि स्वतत्र सस्कृत रचनाएँ भी कालेज-पत्रिकामें प्रकाशित हुइ।

स्वतनमें १९३० की सत्याग्रहकी लडाई शुरू हुई। बच्च जेलमें था तब वहाँसे एक कविमित्रको भेजा हुई रचनाए कुछ महिनोके बाद जेलमें बाहर आया उसके पूर्व ही अग्रगण्य मासिक-पत्रिकाओमें प्रकाशित हुई थी—सूरतमें एक समारभमें एक कृतिको नृत्यके साथ प्रस्तुत करनेवाली बालिकाओका चित्र भी एक अकमें प्रकाशित हो चुका था। आरभ था—

हु गुलाम?
सृष्टि बागनु अमूल फूल मानवी गुलाम?

(मैं गुलाम? सृष्टिके उपवनका अमूल्य पुष्प मनुष्य गुलाम?)

हृदय-चित्त पर राष्ट्रीयताकी भावनाने अधिकार कर लिया था।

उस समय केवल राष्ट्रीयताका ही आकर्षण था? या राष्ट्रीय लडाईके नेपथ्यमे रही किसी व्यापक भावनाका भी आकर्षण था?

१९३०में जेलमे एक अनुभव हुआ। आबु पर प्राप्त अनुभव जिस तरह काव्यजीवनकी दीक्षा देनेवाला था, यह जीवन समग्रकी दीक्षामे प्रेरित करनेवाला था।

साबरमती जेलमे मैं साथियोसे बिछुड कर एकके बाद दूसरी बॅरक-मे हटाया जाता था। ऐसेमे सितारोकी लगन लगी। मुझे हँसी आती कि बाहर खुले आसमानके नीचे था तब कभी तारोका ऐसा आकर्पण न जगा, अब यहाँ बद होनेकी बारी आई तब ये दूर दूरसे टिमटिमा कर मुझे बिल-खाते हैं। बॅरकका एक छोर उत्तरकी ओर था। वहाँ खिडकीके पास खड़ा मैं सप्तर्षिकी ओर ताका करता। उनको छोडकर और तारोंको मैं पहचानता भी नही रहा हूँगा।

उसी समय श्री शंकर दीक्षितकी खगोल-विपयक मराठी पुस्तक 'ज्योति-र्विलास'का अनुवाद मैंने पढा। तुकारामके अभंगोका तथा टॉमस ए. केम्पिसके ईसा-अनुसरणकी पुस्तकका परिचय भी चल रहा था। राष्ट्रप्रेमकी विराट तरग पर तो हम सब उठाए हुए थे ही, उसमे ये रग भी आ मिले। उस समय हररोज सुबह जल्द उठकर दीवारसे जरा दूर—उससे बिना टिके—बैठ-नेकी आदत डाली थी। एक दिन अलख सुबहमे सर पर जैसे कोई अगोचर स्पर्श हुआ हो और उसके वेगके तले दब कर मेरा सारा अस्तित्व मानो पृथ्वीकी सतहके साथ समरेख हो गया हो ऐसा अनुभव हुआ। मानो आत्म-विलोपनका—प्रकाशभरे आत्मविलोपनका भाव उमडता रहा। शून्यताका नही—सभरताका यह अनुभव था।

इस अनुभवकी छायामें मुझे एक नाटक सूझा। उसमे नक्षत्र-ग्रह पात्रोके रूपमे थे। स्वय काल भी एक पात्र था। सनातनताके वागे सज कर काल प्रवेश करता है, और अपनी महत्त्वाकाक्षा प्रकट करता है,—जो सारे नाटकमे बीजरूप है। कहता है कि सृष्टिमे सौन्दर्यको प्रस्थापित करनेमे तो मैं कुछ सफल हुआ हूँ—

तेजने पूर्युं तारलिये,

विश्वना आगण वेरवा मारे
प्रेम भीना सदेश

(तजको तारकोमें स्थापित किया सौरभको पुष्पका सज्जा दा। विश्व के आगनमें मुझे बिखेरने ह प्रेमभोगे सदेश।)

अब विश्वमें प्रेमतत्त्वको वह प्रतिष्ठित देख पाए कि बस ! इस नाटकके दूसरे अकमें मानवजातिके इतिहासके मुख्य क्षणोका स्पर्श करनेका सोचा था। सारा प्रयत्न मानवजीवनमें सवान्तिाकी शक्यताएँ खोजन जाँचनका और प्रम धमकी महिमा गानेका था।

कहनेकी जरूरत नहीं है कि उस समय ऐसा नाटक लिखनेकी स्थितिम म नहा था। कुछ अश लिखे थे बस वे ही। परन्तु इससे मुझ एक बडा लाभ यह पहुँचा कि नाटक लिखनेकी – कवि होनेकी – तयारी कर रहा हूँ ऐसा भाव ही अनुगामी वर्षोंमें सतत बना रहा। कृति लिखनेकी सज्जताके लिए शिक्षाका एक पूरा अभ्यासक्रम मुझे अनायास मिल गया। यह काव्य कृति सूची उसके बाद भी हा इसका रचना पूरी न हुई किन्तु उसमेंसे अय अनेक छोटी-बडी कृतियोका उदभव हुआ है। आत्म विलापनका वह परम आह्लादकारा अनुभव विश्वसे – मानवजातिसे – राष्ट्रसे तादात्म्य का अनुभव करनमें बार बार प्रेरित किया करता है।

गाधीन मा मावडा खोवायो बाळ रे
खोवायो धरताने आगणे
खड खड लाक्यू टाळ ऊमटिया न
मळिया आ मानवीना मळा रे
माठीन मा धरताने खोळे रे खाटठ
हु जा भळी जाऊ भेळो –
हो मावडी खोवायो धरतान आगण।

(ह माँ मन खोजना अपन बालका खो गया है वह इस धरतीके ही आँगनमें। खड खण्डमें टोलक एक साथ उमड आए ह। और लगा है मनुष्या का मह मेला। मा खाजना धरतीकी विशाल गोदमें म जा मिल जाऊँगा सबक साथ। ह माँ म तो खो गया हूँ धरतीके आँगनमें।)

स्वप्न गान (खोयावस्था गान) अन्तर मार्गोंसे उभरता है, और विश्वमानवता (विश्वमानव) इन पक्तियामें विरमता है

व्यक्ति मटीने बनु विश्वमानवी,
माथे धरू धूळ वसुन्धरानी.

(मिट कर व्यक्ति बनूँ विश्वमानव; सर पर धारण करूँ वसुन्धराकी धूल।)

बादमे 'सिवानके पत्थर पर' और 'विराट प्रणय' मे भी तादात्म्यका भाव ही अलग अलग रीतिसे झाँक जाता है।

साबरमती जेलमे प्राप्त अनुभवका काव्य तो स्वय रचा न गया, परन्तु वह काव्यसर्जनके एक अत स्रोतके रूपमे अनुभूति बना रहा। अनुभूति शब्द प्रयुक्त करता हूँ तब मुझे खयाल है कि कोई इसे चाहे तो भ्रान्ति भी कह सकता है, पर जहाँ तक कवितासर्जनका सम्बन्ध है, भ्रान्ति भी एक हकीकत-सी ही परिणामकारक सिद्ध हो सकती है, यह इस मिसालसे देखा जा सकेगा।

१९३१ मे गाधी-इरविन समझौतेके समयमे मैं कॉलेजमे वापिस न गया। फिरसे लडाई आ रही है, इस अपेक्षासे गाधीजी द्वारा स्थापित गूजरात विद्यापीठमे जाकर आचार्य श्री काकासाहब कालेलकरके साथ रहा। वहाँ उस नाटककी तैयारीके लिए स्वाध्यायका आरभ किया। एक दृश्य 'युधिष्ठिरका युद्ध-विषाद' का मसौदा भी बना लिया। पर इस तैयारीके एक आकस्मिक अंकुरके रूपमे 'विश्वशाति' खण्डकाव्य लिखा गया, —पाँच दिनमे। गाधीजीके विभूतिमत्त्वके परिवेशमे यह काव्य चलता है। गोलमेज परिषदमे जाना लगभग स्थगित कर दिया गया था और वे विद्यापीठमे आकर कुछ दिन रहे थे, सुबहमे प्रार्थनाप्रवचनके दरमियान उनका सान्निध्य भरपूर मिलता। 'विश्वशाति' समिष्टिमे समरस होनेकी अभीप्साको साकार करनेका प्रयत्न है। यह काव्य गाधीजी द्वारा स्थापित नवजीवन प्रेससे प्रकाशित हुआ। इसका जो स्वागत हुआ उसमे प्रकाशन-सस्थाका योगदान भी कम नही रहा होगा। परतु यह छोटीसी काव्य-पुस्तिका गाधीजीको पहुँचानेकी हिम्मत मैं कर न पाया।

काव्यदीक्षा सौन्दर्यकी, जीवनदीक्षा प्रेमकी—यो मनमे उग आना एक बात है, जीए जाते जीवनमे प्रतिपल उसका अनुभव-वस्तु बनना और बात है। १९३२ मे जेलसे 'गगोत्री' सग्रहकी कुछ कविताएँ और 'सापना भारा' एकाकी सग्रहके पहले पाँच नाटक लेकर बाहर आया, जिन पर सामाजिक एव वैयक्तिक विसंवादकी छायाएँ अकित है। गाधीजीकी प्रेरणासे जेलोमे ब्रिटिश

गत्वारका आनित्य धर्मा पुथर समाजवादी भावनाएं रचे जा रहे थे। 'गंगोत्री' में भूल जाता जन्मांति जगत यह उत्पात और 'निशीथ' में बैक पासनु घाड (बकरी नदमाश्का गढ़) तथा पांगाग जगी कृतियाँ इस भावनाके जायत प्रभावमें हैं।

तीसरे दशकके बाद लगभग सभी गुजराती नवयुवक इस भावनासे बहुत कुछ प्रभावित हुए पाँच वर्ष बाद 'प्रगतिवाद' के पुरस्कर्ता भी बने परन्तु 'साहित्य अने प्रगति' नामक दो लेखसंचय प्रकाशित करके चौथे दशकके अन्त तक तो सबने प्रगतिवाद पर अधिकृत रूपसे पर्दा गिरा कर आन्दोलन को समेट लिया। दूसरे विश्वयुद्धके बाद साम्यवादियोंकी प्रमाणभूत पराजय साबित हमारे भ्रान्तता सही सिद्ध किया। पश्चात्में ऐतिहासिक इस पथ गग पर समाजवादकी मूल प्रेरणा — सामाजिक न्यायकी माँग — किसी न किसी रूपमें हमसे लगी ही रहा। ४० के नवकवियामें सौंदर्याभिमुखता प्रकट हुई परन्तु लगभग लाभोंके साथ ५० के बाद प्रवेश करते नवकवियोंकी कवितामें पुनः समाजसम्भ का परिमाण बिम्ब, प्रतीक द्वारा आ मिलता है। इसके अनन्तर मानव नियतिका, खास करके आधुनिक समयके दबावके बीच कवि जिस सबन्न 'गोल' व्यक्तियका मनुष्यकी गति-स्थितिकी कैसी झाँकी होता है इसकी सप्रज्ञता (Awareness) कविता द्वारा मूर्त होना चाहती है। 'छिन्नभिन्न हूँ' (१९५६) और 'नाथ' (१९५९) रचनाएँ मेरे इस दिशाके प्रयत्न हैं।

विश्वशान्तिसे वैयक्तिक अशान्तिके अनुभवकी विपरीत गति हमारे युगके सर्जकोंके लिए निर्मित हो चुकी थी — अनिवार्य रूपसे — ऐसा भी कहा जा सकता है। यह भावनाओंका पीछे हटना नहीं है अनुभूत यथार्थका स्वीकार है। इस स्वीकारके बावजूद भी विश्वशांतिकी अभीप्सा मिटनेवाली नहीं थी, बल्कि धीरे धीरे वैयक्तिक अशांति और विश्वशांति दोनों अलग अलग न दीख कर परस्पर ओतप्रोत प्रतीत होनेवाली थी।

'निशीथ' में जो 'देश निर्वासित-सा' नामक कृति है उसे मूल अंग्रेजीमें लिखा था

I wonder how this little soul
Was smuggled into life
Not that I dread the fact of being
That men misname as strife
From birth to death the mortals roam
I seek the way from death to birth

I have wandered and will wander still
An exile on this earth.*

परन्तु वैयक्तिक चेतनाकी वातको पूर्ण रूपसे अकमें भरनेका प्रयत्न 'निशीथ' की सॉनेटमाला 'आत्माके खण्डहर' मे होता है। इस सॉनेटमालाका महदश मैंने वम्वईमे तीन दिनोमे लिखा, उन दिनो मैं वी ए मे भारतीय वेंकिंगका अध्ययन कर रहा था। 'निशीथ' की प्रमुख रचनाएँ वही लिखी गई, वे वम्वईके जीवनके सूक्ष्म प्रभावसे अकित है। खुद 'निशीथ' रचनाका जन्म वम्वईकी लोकल ट्रेनमे, रातको उपनगर लौटते समय कविश्री मेघाणीकी मेरे नाम लिखी गई चिट्ठीके कोरे हिस्से पर कुछ पक्तियोके रूपमे, हुआ था। इसमे छद वैदिक-सा प्रयुक्त करने पर भी लोकल ट्रेनके गति-आदोलन प्रवेश पा चुके है।

'निशीथ' की कविताओकी भूमिका पूर्व लिखित कृतियाँ 'विश्वशाति' और 'गगोत्री' से कटी हुई तो नही है। एक मुख्य ततु है 'विश्वशाति' के पहले और पाँचवे-छठे खडसे सलग्न। मानव-नियति विषयक यह ततु 'निशीथ' मे, 'विराट प्रणय' मे तथा 'आत्माके खण्डहर' मे — तीनोमे भिन्न भिन्न रीतिसे प्रतीत होता है। कविके खयालसे 'मगल शव्द' के पूर्वार्धमे वैश्विक चित्रणका जो आकर्षण है वह 'निशीथ' कवितामे पूर्णतया व्यक्त हुआ है। 'विश्वशाति' के तीसरे खण्डमे झाँकते इतिहासप्रेमको 'विराट प्रणय' मे अभिव्यक्तिका अवसर मिलता है।

दूसरा तंतु है प्रणयकविताका। 'गगोत्री' मे 'अकेले या साथमे' आदि मौग्ध्य-उद्गार, 'रहनुमा विना' रचनामे भावना-सकेत, 'मुखर कन्दरा' जैसी रचनाओमे अपरीक्षित, अननुभूत तथापि विश्वस्त उच्चारण — इन सवके वाद अव विवाहोत्तर कृतियाँ मिलती है। मेरे एक मित्रने तो कह भी दिया — 'विवाहोत्तर कृतियोको प्रणयकविता कौन कहे ?'

---

* १९३४ मे अग्रेजीमे ऐसे कुछ प्रयत्न किए थे। उस समय वम्वईमे रहते श्री हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्यायसे मेरा सम्वन्ध था। उन्होने ये कृतियाँ प्रकाशित करनेकी इच्छा प्रकट की थी, लेकिन मैंने वातको आगे वढने नहीं दिया।

तीसरा एक तंतु मृत्यु विषयक रचनाओंका है 'एक बच्चाका श्मशान से जाते हुए', 'बापू जिनके पूज्य' तथा 'स्वर्गीय बड़े भाई' कृतियाँ मिलती हैं।

चौथा तंतु जीवनकी सामंजस्यताओंका है जिनमें केवल विषमताओंके ही नहीं किन्तु जगत्-जीवनके विशाल फलक पर भी दृष्टिकी व्याप्तिसे बाहर रह गई निगूढ़ समुत्थितियोंके पुष्प और अनुभूति विषय बनते हैं।

पाँचवा तंतु — बल्कि उसे पाँचवा न कहें, यहाँ उपर्युक्त चारों तंतु समवेत होकर अनुभूतिका रूप लेकर स्फुट होना चाहते हों ऐसा लगता है। मेरे लिए तो यह जीवनका कमसे कम कवि-जीवनका शायद मुख्य भाग बनता रहा है। यह दिखाई देता है 'आत्माके खण्डहर' में। विश्वशान्तिके स्थान पर यहाँ व्यक्तिकी अशान्ति शायद विषय-वस्तु बनती है। कुछ अभाप्ता जाए जाते विविधरंगी जीवनके स्वागत पहल्दार बनती है और यथार्थ — निरा यथार्थ केवल यथार्थके स्वागतमें परिणत होती है। विश्वशान्ति और वैयक्तिक अशान्ति विरोधी वस्तुएँ नहीं रह जाती। दोनों यथार्थके सेतुसे जुड़ जाती हैं। खानटमालाके अन्तभागमें एक प्रकारके संशयवाद, निराशावाद, शून्यवाद (Nihilism), स्वप्न आदि भावना विषयक पराजयवाद (Defeatism) और आगे चलकर हमें पाश्चात्य साहित्य द्वारा दिखाये गये निःसारवाद (The Absurd) अस्तित्ववाद (Existentialism) के इंगित हैं, किन्तु परिणामस्वरूप उभर आती है एक प्रकारकी कोई आध्यात्मिक अनुभूति। व्यक्ति दबता झेलता, सीझता मज कर बाहर आता है यथार्थका स्वागत करते उसे अपनाते हुए। मुक्त हृदयसे, मुक्त चित्तसे यथार्थका निर्लेप स्वीकार भी स्वतः एक आध्यात्मिक विजयकी भूमिका है।

अभिज्ञा (१९६७) में संग्रहीत छिन्नभिन्न हूँ और शेष कृतियाँ आगे चल कर एक पूरा काव्यस्तबक बनें ऐसी परिकल्पना है। इस काव्य संपुटमें वे चारों समवेत तंतु पुनः किस प्रकार प्रत्यक्ष होंगे यह फिलहाल मैं ही न जानता होऊँ तो कैसे कह सकूँ? अपने ढंगसे वह अलग और अनूठा प्रयत्न होना चाहेगा। मुझे कुछ ऐसा लगता है कि सर्जकचेतना कभी कभी गोल सीढ़ी पर चढ़ती (spiralling) भी देखनेको मिलती है।

कहिए कि 'आत्माके खण्डहर' मे जो वाहर देखनेको मिला था उसका साक्षात्कार 'छिन्नभिन्न हूँ' मे भीतर होता है। 'आत्माके खण्डहर' सॉनेटके दृढ पद्यवदमे[1] साकार हुआ था, यहाँ छदोलय भिन्न, विक्षिप्त है, वल्कि गुजराती पद्य-रचनाके चारो प्रकार और वीच वीचमे गद्यपक्तियोके द्वारा लय अन्वित होती चलती है। 'छिन्नभिन्न छु'के वाद दूसरी ही पक्ति—'निश्छद कवितामा धवकवा करता लय समो'—के आरभके तीन शब्द और अंतिम तीन शब्दोके वीच लय हिचक जाती है।[2]

छिन्नभिन्नताके अनुभवकी रचना यदि कलाकृति हो पाई तो इतना तो मनुष्य एक-केन्द्र हो पाया है ऐसा कहा जा सकता है। साहित्यका माध्यम शब्द है। वाह्य वास्तविकताको शब्द एकत्व अर्पित करता है, इस अर्थमे कला स्वय एक आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। आजका मुख्य प्रश्न यह है कि यत्र-सस्कृतिमे मनुष्य जीए कैसे? केवल जीए नही वल्कि मानवीय गरिमाके साथ जीए। यन्त्र-वैज्ञानिक सस्कृतिका पश्चिमी जीवन पर भारी दवाव है और हमारे जीवन पर भी उसका असर न पडना असम्भव है। पश्चिममे भी विज्ञान और टेक्नॉलॉजीकी उपलव्धियोके असन्तोपके वीच धर्मकी—एक प्रकारकी आध्यात्मिकताकी—खोजके चिह्न दिखाई दे रहे है। किन्तु धर्मका मार्ग विज्ञानके सत्योके वीचसे ही गुजरता है। 'डिवाइन कॉमेडी' मे इनफरनो (दोजक) और परगेटोरियो (शोधनागार) से होकर ही पेरेडिसो (स्वर्ग) का रास्ता गुजरा है। हमारे देशमे भी ऐसे लोग हो सकते है जो इन अनु-भवोकी आँचमे पक रहे हो।

---

१ इस शताव्दीके आरभमे प्रो वलवन्तराय क ठाकोरने सस्कृत वर्णवृत्तो मे यतिभग तथा श्लोकभगके प्रयोगसे प्रवाहिता सिद्ध की और अर्थानुसारी विराम एव लयके कारण मिल्टनकी काव्यकडिका-सी रचनाकी सभावनाएँ सूचित की। परिणामस्वरूप गुजराती कवियोने सस्कृत वृत्तोसे जैसे कि 'व्लेक वर्स'का काम लिया। खास करके सॉनेट जैसी सघन सुवद्ध रचनाके लिए ये छद कार्यक्षम प्रतीत हुए।

२. 'छिन्नभिन्न छु'मे और 'गोध'मे गुजराती भापाके वोलचालके लहजे और काकु आदिका विनियोग करके तथा भापामे स्वरभारका जो कुछ तत्त्व है उसका लाभ उठाकर मै छंदोमुक्तिकी ओर वढा।

दूसरी कृति 'शोध' जीवनके सजनात्मक सिद्धान्तकी खोजको विषय वस्तु बनाती है। द्रष्टा जब बिखरे वक्ष नहा देखता, वृक्ष रचना मय हो जाता है तब सौन्दर्यानुभूति प्रकट होता है द्रष्टा और दृश्यके जुदा न रह जानेसे केवल सौन्दर्यवस्तु ही प्रागट्य पाती है। यह प्रतीति सहानुभूतिके फलके विस्तरण मात्रसे ही नहीं परन्तु तद्रूपता-समरसता पर आधारित है। पुष्प शिशुओंका कल्हास्य — ये इस कविताके शब्द और छंद है। और कन्याओंके आशा उल्लास है मेरी कविताकी नसोंका रुधिर'। अततोगत्वा काव्यकी सौन्दर्यदीक्षा और जीवनकी प्रेमदीक्षा अलग अलग रह नहीं पाती। प्रेम और सौन्दर्य एकज्वाल होकर रहते है।

अहमदाबाद
१०-१२-१९६८

उमाशंकर जोशी

क्रम

'निशीथ' से

'आतिथ्य' से

'वसंतवर्षा' से

निशीथ

१

निशीथ हे! नतक रुद्ररम्य!
स्वर्गंगनो सोहत हार कठे,
कराल झझा-डमरु बजे करे,
पीछा शीर्षे घूमता धूमकेतु,
तेजोमेघोनी ऊडे दूर पामरी
हे सष्टिपाटे नटराज भव्य!

भूगोलार्धे, पायनी ठेक लेतो,
विश्वान्तर्‌ना व्यापतो गर्त ऊडा
प्रतिक्षणे जे चकराती पृथ्वी,
पीठे तेनी पाय माडी छटाथी
ताली लेतो दूरना तारकोथी

फेलावी वे बाहु, ब्रह्माडगोले
वीझाई र्‌हेतो, घूमती पृथ्वी साथे
घूमे, सुघूमे चिरकाल नतने,
पडे परन्तु पद तो ल्योचित
वसुधरानी मृदु रगभोमे,
बजत ज्या मद्र मदग सिंधुना

२

पामे तारे पृथ्वी चपाय मोठु,
स्पर्शे तारे तेजरोमाच चौन
प्रीतिप्रोया दपतीअतरे वा
विचारवटाळ मचे तु हूफे

३

निहारिकाना सलिले सेलनारो,
लेनार जे ताग ऊडा खगोलना,
खगगणे तु ऊतरे अमारे

निशीथ

१

हे निशीथ, रुद्ररम्य नर्तक !
कंठ मे है शोभित स्वर्गंगा का हार
बजता है कर मे झंझा-डमरू
घूमता हुआ धूमकेतु है तेरे शोश का पिच्छ-मुकुट
तेजस्-मेघो के है तेरे दुकूल फहराते, दूर,
सृष्टिफलक पर, हे भव्य नटराज !

भूगोलार्धं पर दे रहा पाँव की थाप
व्याप्त करता विश्वान्तर के गहरे गर्त्तो को
प्रतिक्षण घूमती इस पृथ्वी की पीठ पर पाँव रखकर छटा से
ले रहा ताली तू दूरवर्ती तारको के साथ !

फैलाकर दोनों भुजाएँ ब्रह्माण्ड के गोलार्धो मे
हिल्लोल ले रहा है घूमती हुई धरा के संग
घूमता ही रहता है चिरन्तन नर्तन मे
रहती है फिर भी पद-गति लयोचित
वसुन्धरा की मृदु रंगभूमि पर
बजते है जहाँ मंद मृदंग सिन्धु के !

२

पैरो से तेरे पृथ्वी दबती है मधुर
स्पर्श से तेरे होता है तेज-रोमाँच द्यौ को
प्रीति-पिरोये दम्पति-हृदय मे उठता है
आवेग का बवंडर, तेरे स्निग्ध सहारे ।

३

खेलता तू नोहारिका-नीर मे
लेता थाह अथाह खगोल की
तू उतरता हमारे रंक-आँगन में ।
देखा तुझे स्वच्छन्द विहरते व्योम में

४

दीठो तने स्वैर घूमत व्योमे,
अगस्त्यनी झूपडीए झूक्तो,
के मस्त पेला मृगलुब्ध श्वानने
प्रेरत व्योमात सुधी अकेल,
सप्तर्षिनो वा करीने पतग
चगावी रहेता ध्रुवशु रमतो,
पुनवसुनी लई होडली जरी
नौकाविहारे उरने रिझावतो,
के देवयानी मही जै झूलतो,
दीठेल हेमत मही वळी, मघा
तणु लई दातरडु निरतर
श्रमे नभक्षेत्र तणा सुपक्व
तारागणो – धा यकणो – लणतो,
ने वर्षामा लेटतो अभ्र ओढी
हे रूपोमा राचता नव्य योगी ।

४

निशीथ हे ! शातमना तपस्वी ।
तजी अविश्रात विराट ताडवो
क्दीक तो आसन वाळी वेसतो
हिमाद्रि जेवी दृढ तु पलाठीए
उत्पातिनी धूणी धखे झळाझळा,
उडुस्फुलिगो ऊडता दिगतमा,
त्या चितवे सष्टिरहस्य ऊडा
अमासअधारतले निगूढ तु
अने अमे मानव मद चेतवी
दीवा तन ज्या करीए निहाळवा,
जृम्भाविकास्यु मुख जाई चड
तार, दृगायो रहीए ज वीटी

उझकते झोंपड़ी मे अगस्त्य की
या खदेड़ते व्योमान्त तक अकेले
उस मृग-लुब्ध श्वान को,
या देखा खेलते ध्रुवके साथ
जो सप्तर्षि को चढ़ाता है ऊँचा पतंग-सा,
या लेकर पुनर्वसु की नाव
रिझाते हुए उर को तनिक नौका-विहार से,
या झूलते हुए देवयानी में जाकर।
तुझे देख पाया हेमन्त में
मघा का हँसिया लिये निरन्तर
नभक्षेत्र के सुपक्व तारक-धानकणों को
मेहनत से पाटते,
और देखा वर्षा मे लेटे अभ्र ओढकर।
रूपों-रूपों मे रमते, हे नव्य योगी।

४

हे निशीथ, हे शान्तमना तपस्वी
तजकर अविश्रान्त विराट ताण्डव
बैठ जाता है तू कभी आसन लगा
हिमाद्रि-सी दृढ़ पालथी जमाकर।
धू-धू जलती धूनी उत्क्रान्ति की
दिगन्त में उड़ते उडु-स्फुलिग
वहाँ निगूढ़ अमा-तमान्तर मे
करता तू गहन सृष्टि-रहस्य-चिन्तन।
और जैसे ही हम मानव जलाकर मन्द दीप
निकलते हैं निरखने तुझे
देखकर जृंभाविकसित चंडमुख-तेरा
दृगों से घेर लेते है अपनी नन्हीं-सी गृहदीपिका को

नानी अमारी घरदीवडीने,
ने भूलवाने मयीए खीलेलु
स्वरूप तारु शिवरुद्र व्योमे

५

सयासो हे ऊर्ध्वमूर्धा अघोर !
अघार अर्चेल कपोलभाले,
डिले चोळी कौमुदीश्वेत भस्म
कमडलु वक्रिम अष्टमीनु
के पूर्णिमाना छलक्त चद्रनु
करे रसप्रोक्षण चोदिशे, जे
स्वय चरे नि स्पृह आत्मलीन,
द्वारेद्वारे ढूकतो भेखधारी
प्रसुप्त कोई प्रणयी युगोना
उन्निद्र हयाक्मला विशे मीठो
फोरावतो चेतननो पराग
स्वय सुनिश्चचल, अय केरा
राचे करी अतर मत्त चचल
खेल्न्दा हे शात ताडवोना !

६

मारा देशे शाश्वती शवरी कशो !
निद्राघेरा लोचनो लोक केरा
मूर्छाछाया भोळुडा लोकहैया,
ते सव त्वन्नीरवनत्य-ताले
न जागशे, घोनट हे विराट ?
मारे चित्ते मृत्युघेरी तमिस्रा,
रक्तस्रोते दास्यदुर्मेघ तद्रा
पदप्रघाते तव, हे महानट,
न छूटशे शु उरना विषाद ए ?

और करते हैं प्रयत्न भूल जाने का
व्योम में खिला तेरा रुद्र रूप!

५

हे संन्यासी, ऊर्ध्वमूर्धा अघोर !
अर्चित है अन्धकार तेरे कपोल-भाल पर
अंगों पर लेपी है कौमुदी-श्वेत भस्म।
लेकर कमंडलु बंकिम अष्टमी का
या पूर्णिमा के छलकते चन्द्रमा का
छिड़कता है रस चतुर्दिक्
तू जो विचरता है स्वयं निस्पृह आत्मलीन,
घूमघूम कर ठोकता है द्वार-द्वार भेखधारी।
प्रसुप्त किसी प्रणयी युगल के
उन्निद्र हृत्कमलो मे मधुरतम महकाता है
चेतना का पराग;
कर के मत्त चंचल दूसरो के हृदय
स्वयं रहकर निश्चंचल
पाता है प्रमोद,
हे शान्त ताण्डवों के खिलाड़ी!

६

कैसी यह मेरे देश में शाश्वत शर्वरी?
निद्राच्छन्न जन-जन के लोचन
मूर्छाग्रस्त भोलेभाले हृदय लोगों के
जागेंगे न क्या ये सब तेरी नृत्यताल से?
द्यौनट, हे विराट!
मेरे चित्तमें घिरी मृत्युमय तमिस्रा
रक्त-स्रोत मे दास्य-दुर्भेद्य तन्द्रा।
चूर चूर होगे न क्या हृदय के ये विषाद?

ઑરતા

क्षणो झडपवी अगण्य क्षणमायी एकाद वे,
अने समयना अनंत टहुकार एमा फूकी,
स्फुरावती जगे, वहो अमर आ अमारा जुओ
रुसे क्वन ! रे खरे ज कविजिन्दगी ए ज शु ?
अनेक क्षणपुज जिन्दगी तणा महीथी क्षणो
निजानुभव दिव्यनी जडी वई गणीगाठी ते
करो शबदना अपूर्ण अधूरा रूपे व्यक्त, शु
गणी ज इति लेवी जिन्दगी तणी ? चिरायुय ए ?
अताग अवकाशमा अणु शी अल्प आ पृथ्वीना
स्फुरे श्वसन चार, अतविण आ महाकालमा
तही नहि-समा अरे मनुजनु क्व्यु-ना-क्व्यु
वही, क्वण काळ, आ पृथिवीनी ज राखोडी ज्या
समग्र इतिहास पे ऊडी पिछोडी आच्छादशे ?
छताय, उर गाई ले रहो जरी रखे ऑरता

नवेम्बर, १९३३

अरमान

अगण्य क्षणों मे से एकाध को पकड़
समय की अनंत कुहुकिकाएँ उनमे फूँक कर
स्फुरित कर जग में, कहते हैं :
'हमारे ये अमर सुशोभित काव्य !'
अरे, सचमुच यही क्या कवि-जिन्दगी ?

जीवन के है अनेक क्षणपुंज,
दिव्य निजानुभव के क्षण तो है कुछ इनेगिने ही,
कर व्यक्त उन्हे शब्द के अपूर्ण अधूरे रूपमे,
जीवन की इति मान ली जाये क्या ?
यही है चिरायु ?

अथाह महाकाश में, अंतहीन इस महाकाल में
अणु-सी अल्प इस पृथ्वी के स्फुरित होते सांस चार
उसमें नगण्य मनुष्य की
की न-को काव्यसृष्टि कहाँ ?
कब तक वह ?
इस पृथ्वी की ही भस्म जहाँ
समग्र इतिहास पर उड़कर चादर चढा देगी ?

फिर भी, हृदय, गा ले
रह न जाये कही मनमे अरमान !

नवम्बर, १९३३

प्रणयीनी रटणा

राते दिन रटो रहु नव जाणु नाम!
भेटी रहु स्वपनमां न पूरी पिछान!
मोडा पहार लगी यात गया पर्यं, न
तावे पूरा तुज हजो यरनु न सान!
तारो मृदु स्वसननी पडवे जीव आ
हैयु, न ताय तुज हूंफ नव हु स्पर्शी!
सॅनाउ तारी रगनी नव लोही-ज्याने,
दीठु नयी हजी पूठे तुज पापानी!

ने यपान वार दी पछी मळ्यु ज ज्यारे
एकान्तमा गुपत गाठडीए ढूंवता,
ज्यारे उरे उर ढळो पूछ्यो ज छानु
'छे ख्याल केवी तु मने रहो'ती सतावी?'
जाणु तु ता नही हमोश, बधुय जाणु!'
आजे न तु नितु थतु ते अहीं हु ज जाणु

१९-४-१९३४

प्रणयी की रटन

रात दिन रट रहा हूँ !
जानता नही नाम !
स्वप्न मे देता हूँ आश्लेष,
नही है पूरी पहचान !
बहुत देर तक बातें करता रहूँ
और फिर भी
अभी तक पूरी तरह नही पहचानता तेरी आवाज !
तेरी मीठी साँसो की धड़कनों से
जी रहा है यह हृदय,
फिर भी नही स्पर्श कर पा रहा
तेरी ऊष्मा !
खीचा जाता हूँ
तेरी नसों की नवरक्त ज्योति से;
नही झाँका है अभी तक तेरी पलको के पीछे !
और, कही किसी दिन फिर मिलेगे ही जब
एकान्त मे डूबेगे बातों के रस मे
जब हृदय हृदय पर ढल करें पूछेगा मूक :
"है ख्याल कैसी तू मुझे रही थी सता ?"
जानता हूँ मै, तू हँस कर कहेगी—
"सब कुछ जानती हूँ"
किन्तु आज यहाँ क्या हो रहा है
वह तो मै ही जानता हूँ ।

१९-४-१९३४

सखी मे कल्पी ती—

सखी मे कल्पी'ती प्रथम कविताना उदय शो,
अजाणी कथाथीये ऊतरी अणधारी रची जती
उरे ऊर्मिमाला, लयमधुर ने मंजुलरव,
जती तोये हये चिर मूकी जती मोदमदिरा

सखी मे झखी'ती जलधरधनुष्येथी झूलती,
अदीठी शी मीठी अवनवल रंगोनी रट शी
प्रतिबिंबे हैये अणुअणु मही अंकित थती,
स्फुरती आत्मामा दिनभर शके स्वप्नसुरभि

सखी में वाछी'ती विरल रसलीलानी प्रतिमा,
स्वयंभू भावोना निलय सरखी कोमलतम,
असेव्या स्वप्नाना सुमदलरच्या संपुट समी,
जगे मर्दानीमा वढवती ज चित्ते तडित शी

मळी त्यारे जाण्यु मनुज मुज शी, पूण पण ना
छना कल्प्याथीये मधुरतर हैयानी रचना

१-१२-१९३७

कल्पना की थी मैंने सखी की—

कल्पना की थी मैंने सखी की—
कि होगी वह प्रथम कविता के उदय-सी ।
अनजान कही से आकर यकायक
हृदय मे ऊर्मिमाला, मधुर लय और मंजुल रव की
रचना कर जाती,
और जाने पर भी
हृदय में चिर आनंद की मदिरा छोड़ जाती ।

कामना की थी मैंने सखी की—
इन्द्रधनु से झुलती हुई
अनदेखी-सी मीठी अद्‌भुत रंगों की लट-सी
प्रतिबिंबित जो हृदय मे, अंकित होती थी अणु-अणु में,
दिन भर आतमा में स्फुरित होती
मानों स्वप्न की सौरभ ।

वांछा की थी मैंने सखी की—
स्वयंभू भावों के निलय के समान कोमलतम,
रसलीला की विरल प्रतिमा के रूप में ।
न सँजोए सपनों के पुष्पदलों से रचित सम्पुट जैसो,
चित्त में तडित् बनकर
विश्व मे मर्दानगी मे करती प्रेरित ।

जब मिली तब जाना :
मुझ-सी ही हो मानवी,
नही पूर्ण भी ।
किन्तु कल्पना से भी मधुरतर है हृदय की रचना ।
१-१२-१९३७

मळी न्होती ज्यारे—

मळी न्होती त्यारे तुज करी हती खोज कशी में?
भम्या'तो कांतारे, कलरव करंता झरणने
तटे घूम्यो, खूंद्यो गिरिवर तणो स्वघपट, ने
द्रुमे डाळे डाळे कीध नजर माळे खग तणा

मळी नहोती ज्यारे दिवसभरनी जागृति महीं,
मळी'तीं स्वप्नोमां मदिल मिलनोनीं सुरभियी
सुगंधे प्रेरायो दिनभर रह्यो शोध महीं, ने
दिवास्वप्ने झांखी कदीकदी थता थाग न लह्यो

मळी अंते स्वप्नो सकल थकीए स्वप्नमय जे
मळी आशाओनी क्षितिज थकीए पारनी सुधा
सूनी आयुनौका मुज झूलती'ती अस्थिर जले,
सुकाने जैं जोती मळी जगतज्ञक्षानित्र महीं

मळी नहोती त्यारे, प्रिय, जलथरु खोजी तुजने
रहु शोधी आजे तुज महीं पदार्थो सकल ए
२५-११-१९३०

जब नही मिली थी—

जब नही मिली थी,
तब मैने तेरी कितनी खोज की थी ?
भटकता कान्तारों मे
कलकल करते झरनों के तट पर घूमा,
रौदे गिरिवर के स्कंधपट
और द्रुमो की डाली डाली पर विहगों के नीडों में झॉका।

जब नही मिली थी दिन भर की जागृति मे,
मिली थी स्वप्नो में मदिर मिलनों की सुरभिसे युक्त।
सुगंध से प्रेरित दिनभर खोज मे रहा,
दिवास्वप्न में यदाकदा तेरी झॉकी होने से
थकान होने पर भी, मालूम न हुई।

मिली आखिर, सकल स्वप्नो से भी जो स्वप्नमय।
मिली आशाओ के क्षितिज के भी जो पार, वह सुधा।
सूनी आयु-नौका मेरी डोलती थी अस्थिर जल मे,
जगत-झंझानिल मे
पतवार को सँभालनेवाली तू मिली।

जब नही मिली थी, प्रिये,
जलथल मे तुझे खोजा था।
आज मैं खोज रहा हूँ तुझमे वे सभी पदार्थ।

२५-११-१९३७

बे पूर्णिमाओ

अगाध हती पूर्णिमा गरक आत्मसौंदर्यमां,
हतुं शरदनुं प्रसन्न नभ शुभ्र ने निर्मळ
सूता सरल नींदरे सुभग शृंग अरवल्लीना
वही कुहूघोष निर्झरणनर्तनोना स्फुरे
तही अजीब रेखो फरकी का अगमलोकनी
स्पृश्युं हृदय, रोमराम कविता प्रवेशी वसी
हती लळती आम्रकुंज, रसमस्त ने कोकिला,
तप्या दिन पूठे हती रजनी रम्य वैशाखनी
धडेल घनकौमुदीरसथी म्हेकतो मोगरो,
पुरे जरीव जपिया जटिल लोककोलाहल
सुगौर अरपेल गारजसमेनी करवल्लीने
भुलावती तही स्फुरी मुखमयकनी पूर्णिमा
निरंतर स्मरी रहुं उभय पूर्णिमा ए सखी
निहाळो कविता तमां, वळी तनेय कवितामही

२९-११-१९३७

दो पूर्णिमाए

पूर्णिमा लीन थी अगाध आत्म-सौन्दर्य मे,
शरद का प्रसन्न नभ शुभ्र और निर्मल था ।
अरावली के सुभग शृंग निद्रा मे निमग्न थे ।
कही निर्झर नर्तनों के कुहर घोष स्फुरित होते ।
वहाँ,
अजीव लहर कोई अगम लोक की आ गई ।
खुला हृदय,
आकर रोम रोम मे बसी कविता ।

झूम रही थी आत्मकुंज,
रसोन्मत्त थी कोकिला;
तपे दिन के बाद रात्रि थी रम्य वैशाख की ।
घन कौमुदी के रस से निर्मित महकता था मोगरा,
नगर मे तनिक शान्त था, जटिल लोक कोलाहल ।
गोधूलि वेला की सुगौर करवल्ली को भुलाती हुई
मुख-मयंक की प्रगट हुई पूर्णिमा ।

निरंतर स्मरण करता हूँ
उभय पूर्णिमाओं को हे सखि,
देख कर कविता तुझमे
और तुझे कविता मे ।

२६-११-१९३७

क्षमायाचना

१

करजे प्रिय माफ आटलु—
कदी बोलावी न लाडथी तने
बहु मग्न हु आज आपणा
लखवामा मिलनो तणी कथा

२

खमजे सखि आज रे जरी
कदी जो मोकली पत्र ना शकु
सखि, आपण-प्रेमना पदो
रचवामा बस छु रच्योपच्यो

३

सहजे प्रिय जिंदगी मही
नव पाया प्रणयामृतो पूरा
कवि हु जीवता मथ्यो पूठे
परबो माडी जवा सुधा तणी

१७-११-१९३७

क्षमा-याचना

१

प्रिये,
माफ करना यह
कि कभी दुलार से नहीं पुकारा तुझे ।
वहुत व्यस्त मै आज
अपने दोनोंके अनेक मिलनों की कथा लिखने में ।

२

सब्र करना, सखि आज जरा;
यदि कोई पत्र न भेज सकूँ मै,
सखि,
हमारे प्रणय के गीत रचने मे

३

हूँ पूरा तल्लीन ।
सहना प्रिय, जिन्दगी मे
नही पाया प्रणयामृत पूरा ।
कवि मै,
सुधा की प्याऊ पीछे छोड जाने के लिए
जीवन मे जूझता ।

१७-११-१९३७

विराट प्रणय

१

पच्चीशी हजु तो व्हेली पूरी माड करी न त्या,
प्रीत आ वसमी क्याथी मने लागी अभागीने ?
जगना प्रणयोनो ना शीख्यो बाराखडी पूरी,
त्या तारे प्रेमपाशे रे पड्यो क्या जगसुदरी ?
मानवीमानवीआखे मननु शाध्यु मानवी,
शोधता क्यायथी ते आ नवी का प्रेयसी मळी !
रम्य ने भव्य ए प्रेम, प्रेमी किंतु अजाण हु
हवे एके रडु छु ने हसु छु बीजी आखथी,
निहाळी रहु वेयथी

निहाळी रहु वेयथी अजब मूर्ति तारी सखी
विशाळ पृथिवीपटे तृणपटे मीठे गालीचे
शिलाथी शिर टेक्वी सिहण वय उन्मत्त शी
उघाडी वळी मीचती हरणनेणनु मादव
उरे उझरडा पड्या रूझवती निसासे, अने
शमावी रही डसके घडक छातीनो कारमो
छातीनो कारमी आवी व्यथा शे शमवी शकु ?
अनोखो प्रेम ने आवो जनाये शे करी शकु ?

२

जतोय करी शे शकु प्रणय, जेह मन्वन्तरो
थकी हृदयमा सुगूढ अविराम सेव्यो सुखे

विराट प्रणय

१

अभी तो पहली पच्चीसी भी पूरी की – न की,
प्रीत यह कैसी जगी अभागे मुझमें ?
जगत के प्रेम का पूरा ककहरा भी नही अभी सीखा।
कि तेरे प्रेमपाश मे
वँध गया कैसे विश्व-सुन्दरी ?
मनुष्य-मनुष्य की आँखो में खोजा मन का मनुष्य,
खोजते खोजते कहाँ से मिल गई
एक नई प्रेयसी !
रम्य और भव्य यह प्रेम, किन्तु मै अनजान प्रेमी,
अव रोता हूँ एक आँख से, हँसता दूसरी से,
देखता हूँ दोनो से ।
देखता हूँ दोनो से तेरी अद्‌भुत मूर्ति सखी
विशाल पृथ्वीपट पर,
तृण के मृदु गलीचे पर
शिला पर सिर धर कर, वन्य उन्मत्त सिहनी-सी
खोलती है, फिर मुँदती है हरिणनेत्रों का मार्दव ।
हृदय में लगी खरोंचों को पूरती है निश्वासों से
और शान्त करती है सिसकियो से
छाती की तीव्र धड़कनों को ।
जिगर की इस भारी व्यथा को
भला शान्त कैसे करूँ ?
और इस अनोखे प्रेम को जाने भी कैसे दूँ ?

२

कैसे जाने दूँ प्रणय जिसको मन्वन्तरो से
हृदय मे सुगूढ, अविराम सँजोया है सुख से ।

न जप, नहि शांति, जे क्षणथी मंत्रिणी संगमा
तने प्रथम जोई मुग्धशिशुका शी ए जोडली ?
निहाळी द्वयरूपसी अधिकरम्य एकेकथी,
करो गूथी गळा महीं सुभग एकबीजा तणा
वनेवन विशाळ भमिघट टहेलती स्हेलती,
स्रवत गुंजगोष्ठि ओष्ठ भरपूर विश्रंभथी
सहेली वळी प्होंची का रूडी वनस्थलीने पटे
सरोवर सरित् तटे उभय वेसी रहेती तहीं
अबोल चिरकाळ, मौननयनोनी लीला वळी
प्रगल्भ पढती नमावी मदु सामसामा मुखो
करो कमरखोटता बढवता ज प्राणैकचने
कशी विमल दीपती प्रकृतिसंगिनी तुं सखी !
हती प्रकृति तो शके नववधू समी मंडिता
सचेल उडु मंडिले, नयनमां नरी नीलिमा,
अने धवल कबुकठ नभगंगस्रग्धारिणी
सकंप कुचमंडले सलिलपातळी पामरी,
धरी क्षितिजमेखला मुखर सिंधुबुद्बुद्रवे,
पदे झरणझांझरी, डिल वसंतवाघा लचे
अने सखी तुं तो अदम्य निज प्राणप्रोल्लासना
प्रकर्षे थकी ऊभराती अवहेलती मंडनो
रमती अनलंकृता अनवगुंठिता भूतले
हती उभयने उरे मृदु सुमेळ दैवी ज को

नही चैन, नही शांति
जिस क्षण प्रकृति मैत्रिणी के संग
तुझे प्रथम देखा मुग्ध वालिका ।
कैसी यह जोड़ी ?

देखकर द्वय रूपसी अधिक रम्य अन्योन्य से,
गलवहियाँ डाले परस्पर.
वन-वन मे विशाल भूमिपट घूमती . . .
चलती है गोपन वात, ओठ भरपूर विश्रंभ से ।
पहुँचती है रम्य वनस्थली पर,
सरोवर-सरिता के तट पर
वैठ रहती दोनों मौन चिरकाल, मूक नयनो की लीला भी
नीचा मुख किये प्रगल्भ पढती है
आमने सामने एक दूसरे के ।
कमर को आलिगित करते हाथ बढाते हैं प्राणैक्य को ।
कैसी विमल शोभित होती है, तू सखी
वन प्रकृति-संगिनी ।

प्रकृति तो थी मानो नववधू-सी मंडित ।
नक्षत्र खचित थे मुकुट मे, नयन में गहरी नीलिमा,
और धवल कंबुकंठ, नभगंगमालधारिणी ।
सकंप कुच-मंडल पर सलिल-सा झीना उत्तरीय,
धारण की है क्षितिज-मेखला
मुखरित जो सिन्धु के वुद्वुद्-रव से,
पदों मे झरनों के नूपुर, देह पर वसंत के वस्त्र,
और सखी,
तुम तो अदम्य अपने प्राण प्रोल्लास के प्रकर्ष से उमड़ती,
अलंकार की करती अवहेलना,
खेलती अनलंकृता अनवगुंठिता भूतल पर ।
था उभय के हृदय मे दैवी मृदु सुमेल ।

समद्ध तुजने सुअध्य प्रकृति प्रहर्षे सदा
समपती, अने तुये प्रकृतिनी रचे अचना
परंतु कदी मुग्ध चक्षुद्वय, हे सुमुग्धे, तव
सखी प्रकृति शातज्योत अपरूप निज चारुता
वडे जरी लुभावी ऊडु ललचावती, ने थतु
तने घणीय वेळ के सखी बतावती तेथी तो
छुपावती ज कन्गणु, न उपभोग वहेंची करे,
स्वय थरती शोख स्वाद उपभोग एकाकिनी
न सख्य अम बे विशे घडीक सभवीये शके
अने कई मिषे लढीवढी कर्या ज कट्टा पडचा
जुदा, पण निवास तो निकटना ठर्या नित्यना
सखी उभय एकमेक थकी नित्य रहे झूलती,
झूटावती ज एकमेक थकी शक्ति रिद्धि प्रभा

३

तने तुरत त्या निहाळी मदमस्त झूझती, हो!
अनेक उरगो चतुष्पद कुलोनी हिंसा सह
डिलेथी मृदु ल्हेरती अनिलनी ऊडे लोबडी
हता ज नखदंत रक्तटपक्त तीणा तीखा,
हती तडित नेत्रमा, धडक माही झन्झानिलो,
प्रचड पदतालताडवप्रपात उल्का खरे
सखी, सुरमणीय मूर्ति तव ते करालो हती
मने भुरत देती ए चिरल्सत नेत्रोत्सव
सखी निखिलनग्न, मग्न निज अगलावण्यना
निरीक्षण महीं रसाक्ति वळाव अगागना
अकुंठित हता तव भ्रमण शैशवक्रीडनो

प्रकृति देती थी तुझे समृद्ध अर्घ्यं सदा प्रहर्ष से,
और तू भी करती थी प्रकृति की अर्चना ।

परन्तु, हे सुमुग्धे
तेरी सखी प्रकृति लुभाती मुग्ध चक्षुद्वय को
ललचाती ज्ञात-ज्योत अपरूप निज चारुता से,
और तुझे लगता था कई वार
कि सखी जितना दिखाती है,
छिपाती है उससे कई गुना अधिक,
बाँट कर नही करती है उपभोग,
स्वयं एकाकिनी करतो है शौक, स्वाद, उपभोग ।
संभवित नही सख्य, क्षण एक भी हम दोनों के बीच,
और तव किसी मिष
लड़-झगड़ कर तोड़ दी मित्रता — हुए अलग,
किन्तु निवास तो रहे निकट के और नित्य के ।
सखी उभय परस्पर झगडती है प्रतिदिन
छीन झपट लेतीं परस्पर से शक्ति, रिद्धि, प्रभा ।

३

तुझे देखा वहाँ तुरन्त मदमस्त, जूझती हुई
अनेक उरगों और चतुष्पद कुलों की हिसा के साथ ।
देह पर उड़ रहा मृदु अनिल का आँचल ।
नखदंत थे रक्त स्रवित पैने-तीखे,
तड़ित थी नेत्रो मे, धड़कन मे थे झंझानिल,
प्रचंड-पद-ताल-तांडव-प्रपात से झरती उल्का ।
सखी हे, तुम्हारी वह सुरम्य मूर्ति थी कराल ।
वह मूर्ति देती मुझे चिर नेत्रोत्सव :
निखिल नग्न अपने अंग-लावण्य के निरीक्षणों में मग्न
अंगांग की रसांकित वंकिमा ।
अकुंठित था तव संचरण ।

तजी अनुभवो रह्यो तरवराट यौमाग्ना
अने रुचिरयौवने द्रुतपदे प्रवेशी मदे
सुयौवन दीपावती सती बनीठनी पाक दो
विराजती रसे भरी अचलशृंग सिंहासने,
झुकावती कटाक्षपात स्मितवल्लीनी बंकिमा
वडे अदम पौरुष, प्रणयथी भरी छातडी
चूमी तव ससी, अन प्रणयिनी बनी तु न्हरी
गुहाकुहर ने पलाशवटआदिना मंडपा
रचेल नवपल्लवे वनलतालचता तटी
मची रमणकेलि मस्त सुरतानी लीला तव
हता करतलो सुरक्त कमला समा, ने मुखे
सरती सुरसी तणी अजब ल्हेरखीओ, सखि !
रगेरग धसे दडे रुधिरना महाधाधवा,
द्रुतश्वसनथी स्तनो थडकी ऊपडे वारमा,
शमावती सुगौर स्पशती स्तनात हस्तांगुलि
ऊठे हृदयमा हुलास नवसजनोना मीठा
न ए अरधमूर्छिता सुरत ताहरी छानी, जे
युगायुग तपो तपी मळी ज रत्नगर्भे तने

४

बनी तु कई धीर शातप्रकृति सुगभीर, ने
तजी वनविलास यौवनतणा, सरित्कंठ के
सरोवर तणे तटे विटपकाष्ठखडो वडे
रच्या लघुक गोष्ठ रम्य तृणपण-आच्छादिया

तज कर शैशवक्रीड़ा अनुभव किया चापल्य कौमार का,
और फिर प्रवेश किया द्रुत पदो से रम्य यौवन मे ।

शोभित करती अपने यौवन को
वनठन कर कभी विराजती थी सगर्व
अचल शृंग के सिंहासन पर,
कटाक्षपात, स्मितवल्ली की वंकिमा से विजित करती
अदम्य पौरुप को;
प्रणयसभर छाती तुम्हारी झुकी हुई,
और, वनी तू सचमुच मे प्रणयिनी ।
नवपल्लव और वनलता से रचित
गुहा-कुहर और पलाश-वट आदि के मंडप मे
की रमण-केलि
रची मस्त लीलाएँ, सुरत-क्रीड़ाएँ ।
थे करतल सुरक्त कमलो के समान
और मुख पर थी अनुपम रेखाएँ लालिमा की,
प्रत्येक नस मे धँसता गिरता
रुधिर का महाप्रपात ।
द्रुत श्वसन से उठते स्तन थडक कर वेग से,
शात करती सुगौर करागुलि से स्पर्श कर स्तनांत ।
उठते है हृदय में नवसर्जन के मधुर उल्लास ।
नही है गुप्त, तेरी वह अर्धमूर्छिता मूर्ति
जो युगो तक तप तप कर
मिली है तुझे, हे रत्नगर्भे !

४

हुई तू कुछ धीर, शातप्रकृति सुगभीर
और तज कर वन-विलास यौवन के
सरिता के किनारे या सरोवर के तट पर,
विटप काष्टखंडो से रचे लघु रम्य गोष्ठ

झरे विमल स्तन्यधार शिशु धावता कोडथी
लचे वपुनी वेल रिद्धिभर वेषभूषा धरी
—तहीं हिमकिरीटिनी धवलभाल दिव्यांगना
अलौकिक रटत मन्त्र ऋचना स्वयंप्रेरित
विलासभर विस्तरत कर गंगसिंधु तणा,
सुहृत गिरिमेखला कटितटे, पदे सिंधुनु
रहे बजी मदंग, ठेक लई लक्द्वीपे, महा
रमी अलखताडवो, युगयुगो थया ने रम्या —
त्रिशूल कर धारी चंड नगराज नङ्गा तणु
सुतीक्ष्ण कटिदेश सोहत कृपाण सह्याद्रिनो
—अहीं शिर परे धर्या हरित शा जवारा, अने
निशासमय व्योमकदर अगाशीए बेसीने
निरीक्षती अनेकरूप गनिओ ग्रहोपग्रहो
अगण्य उडुमंडलो तणी, अकंप नेत्रे, अन
न जे नियतिबद्ध मुक्त नभधूमकेतु घूमे
नवी नियति आंकता निजनी, ते रहे लक्षती
हता ज अल्का समा भवन व्योमचुंबी तव
—अहीं धरती म्होंड भाल पर नावडोघाटनो,
शिरे चपलरम्य शाय हळवथी वाका मूकथा
सखी अवनीमध्यना सरसभावडा सागरे
तरे तरलरंगिणी जलतरंग प कोमळा
धरती पदपद्म नतन अनेमश आदरे,
समुद्रतलरत्न वीणती सलिललीला करे
—तहीं वळी पडोशमा गिरिनी वकी हारा ऊभी,

वहती है विमल स्तन्यधारा
पान करते है शिशु चाव से,
शोभित है देहलता रिद्धिपूर्ण वेशभूषा पहन कर ।
—वहाँ हिम-किरीटिनी धवलभाल दिव्यागना
उच्चारित करती है स्वयंप्रेरित ऋचा-मंत्र ।
फैले है विलासभरे कर गंगा-सिधु के,
कटितट पर सोहती विलास-मेखला,
चरणो मे बजता सिधु का मृदंग,
पॉव रख कर लंकाद्वीप मे खेलती अलख ताडव ।
युग-युग हुए उदित और अस्त ।
कर मे ले त्रिशूल चंड नगराज नङ्गा का
कटिदेश मे शोभित थी सह्याद्रि की कृपाण ।
यहाँ धारण किये सिर पर हरित जवारे ।
और रात्रि की वेला मे निहारती थी छत पर बैठ
व्योम-कन्दरा,—ग्रहोपग्रहो की,
अगण्य उडु-मंडलो की अनेकरूपा गतियो को अकंप नेत्रो से,
और, नही जो नियतिबद्ध, मुक्त जो—
अपनी नई नियति अकित करते—
ऐसे घूमते धूमकेतुओ को करती लक्ष्य ।
थे तेरे भी
अलका के समान व्योमचुम्बी भवन ।
—यहाँ धारण करती भाल पर नौकाकृति मौर
रखा सिर पर धीरे से, चपलरम्य वॉका ।
अवनिमध्य के सरोवर के समान सागर मे सखी,
तैरती तरलरंगिणी जलतरंग पर,
रखती कोमल पदपद्म
करती अनेकशः नर्तन ।
—वहाँ पड़ोस मे खड़ी गिरि की बंकिम पंक्तियाँ,

नभे क्षितिजनी ऊंचे मदु सुरेग अम्हाई जे
ऊभेल गिरिस्वच को गिरिशिशु प्रतापी मनु
सुरेखतर एहना दृढ वळाक कायां तणा,
ज्वलत नभपार्श्वभूमि पर रूपअवार शा
स्वरूप तव चित्तनु हृदयनु वपु प्राणनु
रसाक्ति थयु तहीं नीरखी थै प्रसन्ना क्षण
–समीप ज तहीं ऊठयो प्रगटी प्राण फूफाडतो
धस्यो तव, दिशे दिशे अजय राजमार्गो रची,
अरण्यरण वींधतो जलधिकंठ प्होंची हस्यो
हती अनुप शक्ति त समय वेगीली तेगनी
हती अधिक शक्ति ए थकीय ताहरी जीभनी
–पणे सखी तु राचती अरवघोडले नाचती,
त्वरा न तव रक्तनी घडीय दे तने जपवा
–वळी कहीक धूलिधूसरित हांफती तफडे
कठोर रविताप माहीं ज्वरतप्त काया तव
निरात वळता जरीक, पण वाळीने ऊटनी
मथानी द्रय खूब वीच, वघती पथे डोलती,
अनभ्र नभनो परोवी रूडी वीज भाला महीं
–शके मखमले मढ्या महत क्याक मेदानना
पटे दिवसरात लेटती विसामा करे
–कपोल पर टेकवी कर कहीक एकातमा
अघार वनना प्रचड जळधाघरोणा सुणे

नभ में क्षितिज से ऊँचे
मृदु सुरेख रूप मे जो अंकित ।
खड़े थे गिरिस्कंध
मानो कोई गिरिशिशु प्रतापी मनु,
सुगढित है उसकी काया के दृढ भङ्ग,
ज्वलंत नभपार्श्वभूमि पर रूप अंवार के समान ।
तेरे चित्त का, हृदय का, वपु-प्राण का
देख वहाँ रसांकित स्वरूप
हुई क्षणभर प्रसन्न ।
—समीप मे ही वहाँ फुत्कारते जग उठे तेरे प्राण,
प्रत्येक दिशा मे रचकर अनूठे राजमार्ग,
अरण्य, मरुभूमि पार करता हुआ
मुस्कराता पहुँचा जलधि-तट ।
थी अनुपशक्ति उस समय सवेग तलवार की
और उससे भी अधिक थी शक्ति तेरी जिह्वा की ।
—वहाँ तू अरवी घोड़े पर नाचती,
तेरे रक्त की त्वरा
क्षणभर को भी तुझे चैन नही लेने देती ।
—कही धूलिधूसरित तडपती थी हाँफती-सी
कठोर रवि ताप मे तेरी ज्वरतप्त काया ।
थोडा-सा ही आराम मिलने पर
बैठ कर ऊँट की पीठ पर, आराम से डोलती हुई,
वढती जाती थी पथ पर
अनभ्र नभ की सुरम्य दूज को पिरोकर भाले मे ।
मखमल-जडित मैदान मे
लेटकर कभी सुस्ता लेती थी दिन-रात
रख हथेली पर कपोल कही -एकान्त मे
सुनती थी, अघोर वन के प्रचंड प्रपात रुदन ।

६

प्रसूति हती ना हती तव क्रमेक्रमे थ गई
नवा जनमिया शिशु, प्रलय ने प्रसूतिव्यथा
तणा अनुभवे बध्या रुदन ताहरा, ना शम्या

कईक शमशे गणी ऋषिवरो ऋचा उच्चर्या,
प्रशात पण चडजोम प्रगटावियो ओमध्वनि,
सदतर जशे चही गहनचिंतनोमा सर्या
प्रफुल्लमति व्यास ' धम, जय त्या ' प्रबोधी रह्या,
बघ्या सुभग धमधेनु दुहनार गोपाळ ए
सिनाई नगशृगथी शमन क मूसाए क्यु,
क्युँ ज नझरेथना मदु सुथारपुत्रे घणु
परतु सुणती जरीक ज तू झाझु तो भूलती,
ल्हे शमनमाग ना, अगनकुड ढूढी रहे
नहोर थकी चीरती रुधिरवाहिनी-जूथने,
कठोर जड शल पे शिर अफाळती मूढ शो
अने उपवनो रचेल रमणीय जे तें स्वय
स्मशान सम ते बधा करी मूके घडी एकमा
हशे ज कशी घेलछा रुधिरमा सखी ताहरा!
सुकेश वीखरायला विचरती उघाडे पगे
न कटक गणे न ककर, उतावळी व्याकुळी
पळे, पळळ अस्तव्यस्त अनिले ऊडे अचळो,

संतति तेरी हो गइ क्रम से होने न·होने-सी
नये नये जन्मे शिशु
प्रलय और प्रसूतिव्यथा के अनुभव से
बढ़ते रहे_तेरे रुदन, न हुए शान्त ।
शान्त कुछ हो सकेंगे
मान कर ऋषिवरों ने उच्चारित की ऋचा,
प्रशांत, फिर भी प्रचंड
प्रगट.की ओम्ध्वनि;
खोजना है चिरन्तन उपाय ऐसा सोच कर
गहन चिन्तन मे निमग्न हुए।
प्रफुल्लमति व्यास ने
'यतो धर्मस्ततो जयः' का प्रबोध दिया,
सुभग धर्मधेनु को दोहनेवाले वे गोपाल बोले ऐसा ।
सिनाई नगशृंग से शमन कुछ मूसा ने किया,
वहुत कुछ किया नझरेथ के मृदु वढई-पुत्र ने ।
किन्तु सुनती थी तू वहुत कम,
तू भूलती थी ज्यादा,
शान्ति का मार्ग न लेकर ढूंढती रहती अग्निकुंड ।
नाखूनों से चीरती रुधिरवाहिनी जूथ को,
कठोर जड शैल पर मूढ-सी पटकती सिर ।
और, स्वयं निर्मित रम्य उपवनों को
एक क्षण मे कर देती तू स्मशानवत् ।
कुछ है ऐसा पागलपन, हे सखी, तेरे ही रुधिर में ।
विखरे केश लेकर घूमती नंगे पॉव ।
न मानती कंकड़, न मानती कंटक,
सवेग वावली चलती ।
पीछे अनिल मे उड़ता रहता अस्तव्यस्त आँचल,

६

प्रसूति हती ना हती तव क्रमेक्रमे थै गई
नवा जनमिया शिशु, प्रल्य न प्रसूतिव्यथा
तणा अनुभवे बध्या रुदन ताहरा, ना शम्या

कईक शमशे गणी ऋषिवरा ऋचा उच्चर्या,
प्रशात पण चडजाम प्रगटावियो ओम्ध्वनि,
सदत्तर जशे चही गहनचिंतनामा सर्या
प्रफुल्लमति व्यास 'धम, जय त्या' प्रबोधी रह्या,
वद्या सुभग धर्मधेनु दुहनार गापाळ ए
सिनाई नगशगथी शमन क मूसाए क्यु,
क्यु ज नझरेथना मृदु सुथारपुत्रे घणु
परतु सुणती जरीक ज तू झाझु तो भ्लती,
ल्हे शमनमाग ना, अगनकुड ढूढी रह
नहार थकी चीरती रुधिरवाहिनी-जूथन
कठोर जड शैल पे शिर अफाळती मूढ शो
अने उपवनो रचेल रमणीय जे तें स्वय
स्मशान सम ते बधा करी मूके घडी एकमा
हशे ज कशी घेलछा रुधिरमा सखी ताहरा!
सुकेश वीखरायला विचरती उघाडे पगे
न कटक गणे न कंकर, उतावळी व्याकुळी
पळे, पठळ अस्तव्यस्त अनिले ऊडे अचळो,

६

संतति तेरी हो गइ क्रम से होने न·होने-सी
नये नये जन्मे शिशु
प्रलय और प्रसूतिव्यथा के अनुभव से
बढ़ते रहे_तेरे रुदन, न हुए शान्त ।
शान्त कुछ हो सकेंगे
मान कर ऋषिवरो ने उच्चारित की ऋचा,
प्रशांत, फिर भी प्रचंड
प्रगट.की ओम्ध्वनि;
खोजना है चिरन्तन उपाय ऐसा सोच कर
गहन चिन्तन मे निमग्न हुए।
प्रफुल्लमति व्यास ने
'यतो धर्मस्ततो जय:' का प्रबोध दिया,
सुभग धर्मधेनु को दोहनेवाले वे गोपाल बोले ऐसा ।
सिनाई नगशृंग से गमन कुछ मूसा ने किया,
बहुत कुछ किया नझरेथ के मृदु बढई-पुत्र ने ।
किन्तु सुनती थी तू बहुत कम,
तू भूलती थी ज्यादा,
शान्ति का मार्ग न लेकर ढूँढती रहती अग्निकुंड ।
नाखूनो से चीरती रूधिरवाहिनी जूथ को,
कठोर जड शैल पर मूढ़-सी पटकती सिर ।
और, स्वयं निर्मित रम्य उपवनों को
एक क्षण मे कर देती तू स्मशानवत् ।
कुछ है ऐसा पागलपन, हे सखी, तेरे ही रूधिर मे ।
बिखरे केश लेकर घूमती नंगे पाँव ।
न मानती कंकड़, न मानती कंटक,
सवेग बावली चलती ।
पीछे अनिल मे उड़ता रहता अस्तव्यस्त आँचल,

पहाडो जई वो ज्वलतमुख काळ ज्वालामुखी
तणा उदरमा प्रबळ चहती रहे चिंतती
अहो अगम घेलछा प्रबळ आत्महत्या तणी!
घडीघडी उरे तने धृखी आवती नी ऊठी!
चणेल पुरम्हेल मंदिर अगाशीए आपता,
धरेल पृथिवीपटा हरित वर्षणे सींचन
सरोवर नदी विशाळ जलधि तणे कठ ध
रचेल जळघाट बंदर महाध आवास सौ
क्षणेक मही भस्मसात नहि ना करे घेलछी
धुरा धरवी तें पतिव्रत्नी स्वशासने राचती,
रचे प्रणय नैव स्वैर हृदये रह म्हालती,
स्थलेस्थल रमी रमी नवल्यौवने प्राणिता
विदारी स्थलभोगळा वहीव खडखडा तणी
समुद्रकर मेळवे इतर वा जलधी थकी
अन जलतरंग पे विविध नतनो माडी तु
प्रफुल्ल बनी भान थकी मस्त एरत्वना
वळी गगनमा ऊडी मस्तशविाने नाचती
घूमी रही रमी रही नभ यदृच्छया खेलती
स्थले, वळी जले, नभे प्रबळ वायुना चक्रमा,
वधेय अति शो प्रभाव तव विस्तर्यो चोदिशे!
वध्यु ज तव व्यक्तिमत्त्व तणु भान, ये तु सुखी
टक्यु न सुख ए सखी हृदयमा ज जुदाई ज्या,

पहुँच कर किसी ज्वलंतमुख काल-ज्वालामुखी के उदर मे
प्रवेश की करती कामना ।
अहो ! निर्बाध पागलपन प्रबल आत्महत्या का
क्षण क्षण तेरे उर मे जाग उठता है ।
रचे थे पुरमहल मंदिर अट्टालिकाओं से शोभित,
किये थे पृथ्वीपट हरित
हल जोतकर, जल सीचकर,
सरोवर, नदी या विशाल जलधि के किनारे पर रचे थे
जलघाट, बंदरगाह, महार्घ आवास ।
इन सब को क्षण मे कर भस्मसात्
नही के बराबर कर देती तू पगली ।
धुरा फेक दिया पतित्वका
खुश रहती स्वशासन मे,
अनेक प्रणयो मे व्याप्त स्वैर हृदय से विहार करती ।
स्थल स्थल पर खेलती रही नवयौवन-प्राणित ।
तोड कर स्थलअर्गला कही खंड-खंड की
समुद्रकर को मिलाती किसी अन्य जलश्री से ।
और जलतरंग पर विविध नर्तन कर
हुई प्रफुल्ल तू मस्त, एकत्व के ख्याल से ।
और भी, गगनमे उडी
मरुतशक्ति को वश मे करती,
घूमती रही, खेलती रही नभमे यदृच्छया
स्थल मे, जल मे, गगन मे, प्रबल वायु के चक्र मे
सर्वत्र चहुँओर विस्तरित हुआ तेरा अति प्रभाव ।
बढा तेरा व्यक्तिमत्वका भान,
हुई तू सुखी ।
नही टिक सका वह सुख
हृदय ही जहाँ जुदा थे;

सद्या ज नहि अम्रतो, उर विषे वखो ज्या स्फुरे
न चित्त तुज चाहतु चरणसौख्यने किंचिते,
स्वय सुखथी लेटतु, मजल पायने भाग्य तो,
स्वय निशदी ग्रस्त एक बस एशआरामनी
सुरानी मधुधूनमा, चरणने चलावे कई
अभेद्य वनमाही भीषण अगाध खीणो विशे
अने सतत शासनावलिनी वर्षती शी वपा !
न एक चरणो परे, कमनसीब बे बावडा
न तेय घडी छूटिया, सतत काष्ठने व्हेरवा,
जमीन खणवी पडो कठण खेडवा भूमिना
न जप जरी लोह ने इतर धातुओ टीपता
प्रकार वनवा सुपुष्ट चित बेठवेठु करे
समृद्धि नवी पामवा अवनवी रचे कूचीओ,
अने प्रकृतिनी विरुद्ध नित युद्ध योज्या करे
अहा कशी प्रमत्तता, अखूट शक्तिमत्ता अहो !
प्रमादी तव चित्त केरी चकचूर सत्तासुरा
ढोची अदय जे वायु करतु अयने नि स्व जे
मळी प्रकृतिरिद्धिओ तदपि तु रही राकडी
घडेल दृढ व्यक्तिमत्त्व तव जेह एकत्वथी
तुटयु ज शतकाटिखड, तव प्राणनो अचळो

पचता नही अमृत, हृदय मे ही जब विष हो ।
नही चाहता था तेरा चित्त चरण-सौख्य को थोडा भी,
स्वयं सुख मे लेटता,
पाँवों के भाग्यमे तो थी यात्रा,
स्वयं तो ग्रस्त था दिन-रात
ऐशोआराम की, सुरा की मधु धुन मे,
चरण को चलाती रहती
अभेद्य वनो मे भीषण अगाध घाटियो मे ।
और कैसी वरसती शासनावलि,
न सिर्फ चरणों पर,
दोनो वदकिस्मत वाहु भी क्षणभर को चैन न ले पाये,
चीरते रहना लगातार काष्ठ को आरे से,
जमीनको खरोंचना, जोतना कठिन परते भूमि की,
न क्षण एक का विराम
निरत लोह और अन्य धातुओ को गढने मे ।

नानाविध वनने को
वैठे वैठे सोचा करता सुपुष्ट चित्त,
नयी समृद्धि पाने को रचता है वह नयी नयी कुंजियाँ,
और युद्ध करता रहता प्रतिदिन प्रकृति के विरुद्ध ।

अहो ! कैसी यह प्रमत्तता, उच्छृंखल शक्तिमत्ता
तेरे प्रमादी चित्त की सत्तासुरा पी कर,
जो हुआ मदहोश, निर्दय,
जो करता अन्य को नि:स्व ।
मिली प्रकृति-रिद्धियाँ
तथापि तू वनी रही रंक ।
गठित था जो दृढ व्यक्तित्व एकत्व से
टूट गया वह शतकोटि खंड मे ।
तेरे प्राणो का वस्त्र

रह्यो दुरितवायरे फरकी चोथरेहाल शो
शम्या न, ऊलटा वध्या तव नियागरानदनो

७

अरे परम शामववा मुजथी शर्व्य आनद ए ?
अशक्यतर एथीये प्रणय आवडो छाडवो
सखी तव रिवामणी, उभयघा स्थिति प्राणनी,
अशम्य वळी घेलछा, रुधिरनी पिपासा महा,
वधुय नमजु वई, प्रिय हु एथी ना चाहु छु
अनय अधिकारिणी उरनी एक तु माहरा
घणुय समजु सखी नहि हु याग्य ए प्रेमन
वळी समजु, रे न ते विण घडी शकु हु श्वसी
नथी प्रखर यागशक्ति सतस्पशती कृष्णनी,
सुवास अथवा सुकृत्य तणी सुक्तु शी नही,
सिकदर तिमूर सीझर महान नेपोलियन
तणी कुतुन रेल्ती तव उरे, न तत्वार वा,
न के कुशळ वाछती कुटिल्ताय चाणक्यनी,
न लिकन महानुभाव तणु भव्य चारित्र्य वा,
अन नहि अशोक जे सुभग शोक्हर्ता तव
द्रवत तव धावने रझवनार मा'राजवी —
न एहनी उरे अरे मुज दयानुकपा ल्व
अगाध जफ्लातूनी मनन शुद्ध प्रज्ञा तणा

दुरित पवनों से हो गया छिन्नभिन्न-सा ।
न हुए शान्त, बढते गए
तेरे नियार्गरा-क्रंदन ।

७

अरे कैसे संभवित है मुझसे
शान्त करना इन आक्रन्दों को ?
इससे भी ज्यादा असभवित है इतने प्रणय को छोडना ।
सखी, तेरे कष्ट, प्राण की उभयधा स्थिति,
अशम्य पागलपन, रुधिर की महापिपासा,
सब कुछ समझता हूँ;
इसी से तो प्रिये, तुझे चाहता हूँ ।
अनन्य अधिकारिणी एक तू है मेरे हृदय की ।
वहुत समझता हूँ कि पात्र नही हूँ इस प्रेम का ।
और भी समझता हूँ
कि नही जी सकता एक क्षण उसके बिना भी ।
नही है प्रखर योगशक्ति कृष्ण की
करती हुई, सत्य का स्पर्श,
नही है सुकरात के सुकृत्य की-सी सुवास,
नही है सिकंदर, तैमूर, सीजर या महान नेपोलियन की
तलवार,
कौतुहलो को बहाती तेरे हृदय पर;
और नही है कुशलता की कामना करनेवाली कुटिलता
चाणक्य की;
नही है महानुभाव लिकन का भव्य चारित्र्य;
नही है अशोक—तेरा सुभग शोकहर्ता
बहते घाव को भरनेवाला महान राजा—
नही है उसकी मेरे उर मे लेश भी दयानुकंपा ।
अफलातून की प्रज्ञा का शुद्ध अगाध चितन भी नही,

नहीं, प्रकृतिदत्त शेक्स्पियर शा कविप्राज्ञनी
न शक्ति, नहि भक्ति के अमर मुक्तिनी शैली शी
न रे रसिकताय रच कवि कालिदासादिनी

यथा ललित कोमलांगी रसगर्विता रूपसी
मनोज्ञमहिषी सुधासभर क्लिअपाट्रा समी
सवारी चडी राजमार्ग पळती दमामे कदी,
दिगंत थकी राजवीगण पधारी चारे दिशे
भमे चरण चूमवा तहीं शहेरने को ग्रणे
अकिंचन ऊभेलो या प्रणय सेवतो अंतरे
निरीक्षण सवारीनुं अयुतचक्षथी रोमना
निरंतर कर्यां करे, पण गई ज सम्राज्ञी तो,
गया प्रणय—मात्र त्या बळयुजळ्यु ज हयु रह्यु
अरे प्रणय माहरोय बस एहवो ! जाणुं छु
छताय प्रणय सदैव चकचूर हयु रहे
सूझे न कई अन्य वात, तव एक आराधना
अहर्निश स्फुर्यां करे, शमनना उपायो रमे
त्वदर्थ, अभिषेक औषध समी गिराना स्रवे
विराट तव वेदना, उर तणो ज आधार ए
घडी अधघडी कशो जरीक जंप पामे नहि
निहाळु तव नण घूर्णित भदे, अजपा उरे,
वधत अधिकाधिकी सतत चित्तअस्वस्थता,

शेक्सपियर जैसे कविप्राज्ञ की प्रकृत्तिदत्त शक्ति भी नही,
शेली की अमर मुक्ति की भक्ति भी नही,
और नही है
रसिकता जरा भी कवि कालिदास आदि की ।
जैसे ललित, कोमलांगी, रसगर्विता, रूपसी, मनोज्ञ महिषी,
सुधामय
क्लिओपाट्रा की सवारी निकली हो राजमार्ग पर
शाही रोब से,
आ आ कर दिगन्त से राजागण
घूमते चहुँदिश उसके चरण चूमने को,
वहाँ शहर के एक कोने मे खडा हो कोई अकिंचन
मन मे प्रणय सँजोता, रोम रोम के अयुत चक्षुओ से
निरंतर निरीक्षण करता रहे सवारी का,
किन्तु गई साम्राज्ञी, प्रणय भी गया,
मात्र वहाँ जला-भुना हृदय ही रहा।
ऐसा ही मेरा प्रणय है—
जानता हूँ मै ।
फिर भी सदैव रहता मदहोश प्रणय मे यह हृदय,
नही सूझती अन्य कोई बात,
तेरी ही एक आराधना अहर्निश स्फुरित होती है,
तेरे लिए शमन का उपाय सोचता है,
औषध-सी वाणी के अभिषेक स्रवित होते है ।
विराट है तेरी वेदना,
उर का यह भार जरा भी क्षण-दो क्षण नही होगा शान्त ।
देखता हूँ, नेत्र है तेरे घूर्णित मद से,
अशांति चित्त मे, बढती जाती है
अधिकाधिक निरंतर चित्त की अस्वस्थता,
देखता हूँ, फिर से जाग उठती है इच्छा
भीतर से आत्महत्या की,

फरी धूरकी ऊठती महीथी आत्महत्या तणी
निहाळु, रडीने रहु शमन रे न आ हायमा

८

अरे लघुक उमरे प्रणयपाशमा ताहरा
पड्यो, न चमकी शकु, चसक्वा न चाहुय ते
चहु ज बस एक नित्य उर तारु आस्वादवा
—क्षमा! यदि हु चाहु का इतर वस्तु तु काज—रे
निरतर रटी रहु शिवभविष्य तारु प्रिये
हु ता क्षण क्षणाध आही टकीने मटी जैश, ने
कदीय मळशे मने खबर तारी केमेय ना
तु ता युगयुगान्तरा अमरयौवना जीवशे,
स्मरीश पण ना, हतो प्रणयी एकदा एक को
  प्रणयी एकदा केवो एक कोई हतो तव
  सभारीश न, सभार्ये काईनुय भलु कशु?

छता चरम वाछना तव पदे, करो हे सखी
कृपा हृदयप्राण तुमय मदीय घेला सदा
मीठा प्रणयना अरे न प्रतिनाद मागे जरी
मन न परवा धरे हृदयमाही वा उपरे
तु आ हृदयने भले न कदीये, न के रागनी
परागभर शोणिमायी तरबोळ आत्मा करे

रो कर रह जाता हूँ,
शान्त करने की क्षमता नही है इन हाथों में ।

८

अरे, छोटी ही उम्र मे
वद्ध हुआ हूँ तेरे प्रणयपाश में,
झटक नही सकता, झटकना चाहने पर भी ।
चाहता हूँ नित्य बस, एक तेरे हृदय का आस्वाद ।
—क्षमा !
यदि मै कामना करता हूँ अन्य वस्तु की तेरे लिए—
मै निरंतर रटन करता हूँ,
प्रिये, तेरे मंगल-भविष्य की ।
मै तो क्षण क्षणार्ध
यहाँ जी कर मिट जाऊँगा
और कभी भी मुझे नही मिलेगी तेरी खबर कैसे भी ।
तू युगयुगान्तर तक जीएगी अमरयौवना;
याद भी नही करेगी :

था कभी एक कोई तेरा प्रेमी ।
कैसा था कभी एक कोई तेरा प्रेमी ।
याद मत करना

याद करने से किसी का क्या भला होता है ?
फिर भी चरम अभिलाषा है तेरे चरण मे,
हे सखी, कृपा कर ।
तुझमय मत्त मेरे ये पागल हृदय-प्राण
प्रणय के मधुर प्रतिशब्द की याचना नही करते ।
मुझे नही परवाह इसकी कि तू मेरे इस हृदय को
अपने हृदय मे या ऊपर से धारण करेगी या नहीं,
अथवा मेरी आत्मा को राग की परागमय रक्तिमा से

तो उचित सम्परीत मर हु न पाही शकुं,
परन्तु प्रिय भार्यु म नि न्हा तु न्हाना जगी
रहा तु नान्या जेवी हथी मे अय पार्दथी
एटले उद्भवी तु न्हाना न्हाना ज हागना
अर प्हानारनो पा दी गमीता न हजा तन,
अविश्वास ता पाही मागुं आज हु एटनु
हजा थीरा रसामाआ हयु हरु पसायता
तारा पारी प्रणमुग भाभार गुधा तणा
हजा आयुष्मनी! व्हेली म्य म्य तु स्मितमंडना,
हमजे जरी शानु पे, प्रेयसी हु निरतना
रेवी'ती पा स्वल्पारे म ए दुर्दम्य सपना

२०-८-१९३८

म्हेणु

डाले अंधारघोर आभला
छपी छूपी वीज करे वातडी
'पूर्णिमाने कहेजो के कोक दी
आटली अजवाळे रातडी '

तरवतर करेगी या नही ।
तुझे उचित भव्य रीति से
मर्त्य मै चाह नही सकता,
फिर भी हे प्रिये, प्रार्थना करता हूँ
बनी रहे तू चाहने योग्य सदा ।
बनी रहे तू चाहने योग्य
मुझसे या अन्य किसी से ।
तुझे चाहते चाहते
पैदा हुई है ऐसी तीव्र कामना ।
और, न कभी कमी हो तुझे चाहनेवालों की,
निरंतर तुझे चाह कर इतनी याचना करता मै आज।
हों यहाँ वीर रसात्मा
हृदय को अत्यधिक उल्लसित करनेवाले,
तेरे भारी घाव मे सुधा का सिचन करनेवाले ।
आयुष्मती होना तू !
और होना जल्दी स्व-स्थ, स्मितमंडना,
हँसना थोड़ा ज्यादा
कि, हे चिरंतना प्रेयसी,
मैने इस दुर्दम्य अभिलाषा को
किसी एक देश-काल मे सेया था ।

२०-८-१९३८

उलाहना

झूमते अंधकारभरे बादल,
छिपी-छिपी बिजली करती है बात—
'पूर्णिमा से कहना कि कभी
इतनी तो उजियारे रात !'

मई १९३३

पिताना फूल

अमे जेनी साधे वजन फिरतोनु थई फर्या
वधे आयुमर्गे, जगनी गलीकूची विविधमा,
चडाणे ऊडाणे, शिरविटमणाओ थई भम्या,
अमे लाव्या ए रे शरीर निज साधे ऊचकीने,
अही लाव्या ए रे शरीर निज साधे जनकनु

अने जेना हाडे पूरवजदीधी प्राणसरणी
पुराणी पोपाई वही अम मही कौतुकवती,
अमे आव्या ए रे निज जननना हाडढगनी
पडी सानीमाथी अगनबचिया फूल वीणवा

भरी वाळी सानी धखधख थती टोपली मही,
अने पासे व्हेळो खळळ वहतो त्या जई जळे
डबोळी, टाढोळी, जगीक हलवी, ने दूधसमा
प्रवाहे स्वगगाजल थकी शके तारक वीण्या।

वीण्या तारा, फूलो, जगनु वधुये सुदर वीण्यु,
न लाधे स्हेजे जे, शिव सकल आजे मळी गयु,
शम्या मृत्युशोको, अमर फरकती नीरखीने
पिताना फूलोमा धवल कलगी विश्वक्रमनी

एप्रिल १९३४

पिता के फूल

जिसके कंधे पर चिन्ताओं का बोझ बन कर
घूमते रहे हम सारे आयु-मार्ग में,
जग के विविध गली-कूचे में;
चढाव-उतराव मे भटकते रहे हम
बनकर जिसके सर की परेशानियाँ;
ले आए आज हम उस शरीर को उठा कर
अपने कंधे पर,
ले आए रे हम कंधे पर शरीर अपने जनक का ।

पूर्वजदत्त प्राणधारा पुरातन
पली जिसकी अस्थियों मे,
विस्मय जगाती वह वही हममे,
आए हम ऐसे जनक के अस्थिपुंज की भस्म से
चुन लेने को अग्निशेष फूल ।

बुहार कर भरा गर्म राख को टोकरी में
और जा कर, पास मे बहते सोते के जल मे रखा, डुबोया,
शीतल किया, जरा हिलाया
और दूध-से दीखते प्रवाह से
चुने मानो तारक स्वर्गगा के जल से ।

चुन लिए तारक, फूल; जग का जो कुछ सुंदर, चुन लिया;
जो नहीं प्राप्य सरलता से, मिल गया आज वह सकल शिव;
शमित हुए मृत्युशोक, निरख कर अमर फहराती
पिता के फूलो मे धवल कलगी विश्वक्रम की ।

अप्रैल १९३४

सद्‌गत मोटाभाई

१

अरधीपरधी म्होरी हती आयुष्यवेलडी,
पडचु हिम अचित्यु ने निश्चेतन ढळी पडी
हजी तो जामता'ता ज्या हैये कोड जीव्या तणा,
ढोळायु जिंदगी केरु पात्र ने कै न रहे मणा

विताव्यु बाल्य लथडी, पडता ऊठता,
कोडे किशोरवय स्वप्न रूडा रचता,
ने यौवने कई भगीरथ कीध यत्न,
आशा थती फलवती क्षण तो जणाई

आयुष्यनी हती वसतबहार मीठी,
उल्लासथी मघमघत हतु ज हैयु,
ने तोय रे सभर जीवनथाळ ठेली
- का क्रूरतायी मुख फेरवी लीध आडु ?

आ सृष्टिनी अजबसुदर लोकलीला,
आशा, हुलास, रस, ऊर्मि गिरा प्रसन,-
ए सव एक क्षणमा ज तजी सदाना
जानारनी मूझवणो लहीशु अमे शो ?

२

अमारे तो रह्या रोणा, रुदनोयीय क्रर ते
रह्यु मृत्युमीढु मौन तमारा पगला जते
ना अहीना पदार्थोनी तमे छो गणना करी,
अमारे तो तमारी रहे रटणा ज फरीफरी
न्होती जगन्नयन आजती रूपआभा,
न्होती समाजयिनी वाक्प्रतिभा यशस्वी
लोकोत्तर प्रकृतिदत्त हती न शक्ति,

स्वर्गीय बड़े भाई

१

अधूरी बौरायी थी आयुकी वल्लरी,
उस पर अचित्य हिम गिरा, निश्चेतन ढल पड़ी वह्न।
अभी तो जीने की स्वप्नेच्छाएँ जग रही थी,
जिदगी का पात्र ढुल गया, कुछ भी नही बचा।

वाल्य उठते-पडते, लड़खड़ाते बीता,
किशोर वयमे रचे कई स्वप्न सुंदर
और यौवन में किये कई भगीरथ यत्न
क्षणभर लगा कि आशा फलवती हुई।

आयुष्य की मीठी थी वसंत-वहार
उल्लास से हृदय महकता था पूरा
वहाँ भरा हुआ जीवनथाल दूर करके
क्यों क्रूर वनकर मुँह फेर लिया उलटे ?

इस सृष्टि की अजब-सुदर लोकलीला
आशा, हुलास, रस, ऊर्मि, प्रसन्न गिरा,—
यह सब एक क्षण मे ही सदा के लिए तज कर
जानेवालो की उलझन समझेगे क्या हम कभी ?

२

हमे तो रहा रोना, रुदन से भी क्रूर
रहा मृत्यु-मुंदा मौन तुम्हारे कदमो के पीछे।
यहाँ के पदार्थो की तुमने की नहीं परवाह
हमारे लिए तो शेष रहती वार-बार तुम्हारी ही रटन।
नहीं थी जगन्नयन आँजती रूप-शोभा,
नही थी सभाजयिनी वाक्प्रतिमा यशस्विनी,
लोकोत्तर प्रकृतिदत्त नही थी शक्ति,

सत्ताप्रमत्त विभवो वळी पद्मजाना
ए सव तो अहीं निरगळ छे मरेल,
ने तोय आ प्रकृतिनु-वसुधानु-पात्र
जाता तमे वनी गयु रसशून्य रक,
निःसत्त्वशा थई गया सहु सृष्टितत्त्व।

शोभा भले जगनी क रचता पदार्थ,
शोभा भले जगनी ना मुज हो पदार्थ
ए भार तो क्षिमपिद्रव्य, अकल्प्य शोभा
क्या ए हवे अलभ द्रव्य अघयनु रे।

३

आषाढी आभनो भेदे वीजळी घनमडप,
बळती जळती तेवी चित्तमा स्मृतिविद्युत
श्वासे श्वासे रहे जागी डख अतरछेदना,
पलके पलके ऊडी टपके गूढ वेदना

क्या मूर्ति ए नीरखवी फरी कार्यशील
एकाग्र जे नियतदत्त प्रवाहधर्मे?
सतोषी ए मुखनी आकृति सुप्रसन्न,
घूटेल अश्रुकणथी वळी आख आर्द्र?

व्हेता अबोल मुखडे अपशब्द कोना
व्हेता प्रसन्नमन सर्व कुटुम्बभार,
स्हेता अबोल्हृदये अपकाय कोना
स्हेवु सहेवु बस एक हती ज धन

ससारनी वही धुरा पडी काध, वेठी
होम्या सुखो निज करी नित जयचिंता
स्वीकारी आतुर उरे वडीले दीधेल
साध्यो सुकोमल वये कटु कर्मयोग

पद्मजाके सत्ताविमत्त विभव भी नहो थे ।
यह सव तो यहाँ निरर्गल भरा है,
फिर भी प्रकृति-वसुधा का यह पात्र वन गया है
तुम्हारे जाने पर रसशून्य रंक,
हो गए हैं सव सृष्टि-तत्त्व नि.सत्त्व-से ।

जगकी शोभा रचते हुए कई पदार्थ हों भले,
जग की शोभा मेरा पदार्थ भले ही न हो,
मेरा तो है यह किमपिद्रव्य, अकल्प्य शोभा ।
इस अवन्य का यह अलभ द्रव्य कहाँसे अव मिलेगा ?

३

आषाढ़ी व्योम का भेदती है विजली घनमंडप,
उसी तरह चित्त मे जलवल रही है स्मृतिविद्युत्,
श्वास-श्वास मे जग रहा है अंतर-छेद का डंक,
पलक-पलक से टपकती है गूढ वेदना ।

ऐसी कार्यशील, नीरव मूर्ति फिर कव दीखेगी
जो थी एकाग्र नियतिदत्त प्रवाहधर्म मे ?
उस मुख की संतोषी सुप्रसन्न आकृति
घूँटे हुए अश्रुकणो-सी आर्द्र आँखे कहाँ दीखेगी ?

अवोल मुखसे किसी के अपशब्द सहते हुए,
प्रसन्न मनसे सारा कुटुव-भार सँभाले हुए,
अवोल हृदय से किसी के अपकार्य को सहन करते हुए,
वहन करना, सव सहना, वस यही एक धुन थी ।

संसार की धुरा उठाते कंधा व्रणयुक्त हो गया,
उसे सह लिया ।
निज सुख होमे, सदा अन्यचिंता की ।
स्वीकार कर आतुर उर से वडो से प्राप्त
कटु कर्मयोग सुकोमल वय मे सिद्ध किया ।

સત્તાપ્રમત્ત વિભવો વળી પદ્મજાના
એ સર્વ તો અહીં નિરગળ છે ભરેલ,
ને તોય આ પ્રકૃતિનુ–વસુધાનુ–પાત્ર
જાતા તમે બની ગયુ રસશૂન્ય રંક,
નિઃસત્ત્વશા થઈ ગયા સહુ સૃષ્ટિતત્ત્વ !
શોભા ભલે જગની ઞ રચતા પદાર્થ,
શોભા ભલે જગની ના મુજ હો પદાર્થ
એ મારુ તો વિમર્ષિદ્રવ્ય, અનલ્પ શોભા
ક્યા એ હવે અલભ દ્રવ્ય અધન્યનુ રે !

૩

આપાઢી આભનો ભેદે વીજળી વનમંડપ
બળતી જળતી તેવી ચિત્તમા સ્મૃતિવિદ્યુત
શ્વાસે શ્વાસે રહે જાગી ડસ અંતરછેદના,
પલકે પલકે ઊંડી ટપકે ગૂઢ વેદના

ક્યા મૂર્તિ એ નીરખવી ફરી કાર્યશીલ
એકાગ્ર જે નિયતદત્ત પ્રવાહધર્મે ?
સંતોષી એ મુખની આકૃતિ સુપ્રસન્ન,
ઘૂટેલ અશ્રુકણથી વળી આંખ આર્દ્ર ?

ન્હેતા અબોલ મુખડે અપશબ્દ કોના
વ્હેતા પ્રસન્નમન સર્વ કુટુમ્બભાર,
સ્હેતા અબોલહૃદયે અપકાર્ય કોના
વ્હેવુ સહેવુ બસ એક હતી જ ધન

સંસારની વહી ધુરા પડી કાંધ બેઠી
હોમ્યા સુખો નિજ કરી નિત અર્યચિંતા
સ્વીકારી આતુર ઉરે વડીલે દીધેલ
સાધ્યો સુકોમલ વયે કટુ કર્મયોગ

पद्मजाके सत्ताविमत्त विभव भी नही थे ।
यह सव तो यहाँ निरर्गल भरा है,
फिर भी प्रकृति-वसुधा का यह पात्र वन गया है
तुम्हारे जाने पर रसशून्य रंक,
हो गए हैं सव सृष्टि-तत्त्व निःसत्त्व-से ।
जगकी शोभा रचते हुए कई पदार्थ हो भले,
जग की शोभा मेरा पदार्थ भले ही न हो,
मेरा तो है यह किमपिद्रव्य, अकल्प्य शोभा ।
इस अधन्य का यह अलभ द्रव्य कहाँसे अव मिलेगा ?

२

आषाढ़ी व्योम का भेदती है विजली घनमंडप,
उसी तरह चित्त मे जलवल रही है स्मृतिविद्युत्,
श्वास-श्वास मे जग रहा है अंतर-छेद का डंक,
पलक-पलक से टपकती है गूढ वेदना ।
ऐसी कार्यशील, नीरव मूर्ति फिर कव दीखेगी
जो थी एकाग्र नियतिदत्त प्रवाहधर्म मे ?
उस मुख की संतोषी सुप्रसन्न आकृति
घूँटे हुए अश्रुकणो-सी आर्द्र आँखे कहाँ दीखेगी ?
अवोल मुखसे किसी के अपशब्द सहते हुए,
प्रसन्न मनसे सारा कुटुव-भार सँभाले हुए,
अवोल हृदय से किसी के अपकार्य को सहन करते हुए,
वहन करना, सव सहना, वस यही एक धुन थी ।
संसार की धुरा उठाते कंधा व्रणयुक्त हो गया,
उसे सह लिया ।
निज सुख होमे, सदा अन्यचिंता की ।
स्वीकार कर आतुर उर से वडों से प्राप्त
कटु कर्मयोग सुकोमल वय मे सिद्ध किया ।

४

काळने ते क्हीए शु जरीये नव चक्रियो,
पाच आगळीओमाथी अगूठे वाढ मूक्यो
पाडुना पाच पुत्रोए हेमाळे हाड गाळिया,
रह्या'ता धम छेवाडे, तमे आगळ शे थया ?
छे मत्यु तो प्रकृति जीवितमात्रनी, ए
सत्ये ठरे मन घणु, पण जो वसते
पर्णो खरे शिशिरमा खरवानु जेने,
तो सत्य क्या, ऋत क्ही, प्रकृतिक्रमो क्या ?
उल्लघिया शु मनुजे प्रकृतिक्रमा ए ?
के कोई दी प्रकृतिएय विलोपी माझा ?
क्याथी अरे मनुज पे ऊतरे अक्स्मात् ?
शाने, कशी वरणी त्या, वळी शा ज न्याय ?
कोडेथी जीवनलता मदु सीचवी का,
आकस्मिक प्रलय जा निरमेल एना ?
के अध नु नियतिन शिर नामी रहेवु,
ज्यायी सवे अकल्प्यशक्तिभर्या अकस्मात् ?

५

नियति, नियति, एक क्रूर तु वर सत्य तु
विश्वे जे छे नयी ते क, हु न, छे एकमात्र तु
काळमीढ अघ भित्ति, नियति ऊभजे भले !
अकाळी गिर सिचावु रक्तयी मनुजे भले !
छे मृत्यु जो अफर सत्य, वृथाश्रु शाने ?
शाने विलाप कक्ळाट, अरण्यराणा ?
जे क पडे नियतिने शिर नामी स्हेवु
रे तोय मपायपी अनर्गळ अश्रु व्हेना

४

काल को क्या कहे, तनिक भी निशाना न चूका,
पाँच अँगुलियो मे से अँगूठा काट डाला ।
पाडु के पॉच पुत्रो ने हिमालय मे हड्डियॉ गलाई,
धर्म अंतमे रहे, आप आगे क्यो हो गये ?

जीवितमात्र की प्रकृति है मृत्यु,
यह सत्य मन मे बहुत ठहरता है,
पर जो पत्ते शिशिर में झरने चाहिए थे,
यदि झर जाएँ वसंत मे ही
तो सत्य कहॉ, ऋत कहॉ, प्रकृतिक्रम कहॉ ?

मनुष्यने यह प्रकृतिक्रम उलांघे है क्या ?
या किसी दिन प्रकृति ही क्रम विलोपती है ?
कहाँ से उतरता है मनुष्य पर अकस्मात्,
किसलिए, कैसा चुनाव वहॉ, कैसा न्याय ?

लाड से सिचना क्यो मृदु जीवन-लता को
आकस्मिक प्रलय इसका निर्मित हुआ यदि ?
या अंध नियति के आगे सिर दे नँवा
जहाँ से अनाकलनीय अकस्मात् है निकलता ?

५

नियति, नियति, एक ऋत तू, वर सत्य तू ।
विश्व मे जो है वह कुछ नही है, मै नही,
एक मात्र है तू ।
काली चट्टान अंध भित्ति, नियति भले तू खड़ी ।
पछाड़ कर सिर मनुज को होना भले रक्ताभिसिक्त ।

मृत्यु यदि अटल सत्य, वृथा अश्रु क्यो ?
शोक, विलाप, क्रंदन, अरण्यरुदन क्यो ?
जो कुछ आन पड़े, नियति के आगे सिर झुका सहें !
फिर भी ये अनर्गल अश्रु कहॉ से बहते है !

ना अथवा हतु वनो गरवानु गाई,
तो अथवा मरो वृथा वन पोळ्या ना?
ने तोय ते अगाथी गाळी ज ऊठी
आ आयनामरनी आतरडी समारे
भटोनु जय ायमा यधु रम्य लोरे,
ए इन्द्रजाळमहो तत्त्वाो पै न श्रद्धा
आयुष्य अल्प हतु, स्नेह न अल्प नाई!
आयुष्य अल्पनो गया गयो ए गमाई
गमाई ए गया मूकी उरो मूक भावना,
सातरठे वर्जी ऊठी जे मृत्यु नणी मीडमा
मार्च १९३८

छता पी ले, व्हाला!

वह छे के प्याली वद्‌तम रसे छे ज सभर
सदानीये एवी जीवतरकटोरी तु गणजे
छता पी ले, व्हाला, झट गटगटावी तल लगी,
न एथी क तारा वधघट थशे रेशा दु समा
जानुआरी १९३५

अन्यथा वन सकनेवाला कुछ न था,
तो चाह कर अन्यथा यहाँ वृथा क्यो पीना जहर ?
और फिर भी अग्नि से जल उठती है
यह हमारी जीवन भर की आँतड़ियाँ ।

मिलेंगे अन्य लोक मे, अधिक रम्य लोक मे
तत्त्व के इस इंद्रजाल मे नही है कुछ भी श्रद्धा ।
आयुष्य अल्प था, स्नेह नही अल्प, भाई,
अल्प आयु की यही छोड गये हो कमाई ।

छोड़ गए हो यही कमाई : उर की मूक भावना
शतकंठ से वज उठी जो मृत्यु की मीड मे ।

मार्च १९३८

फिर भी पी ले, प्यारे !

कहते है : प्याला कटुतम रस से भरा है ।
जीवन-कटोरी को भी सदा के लिए ऐसा ही मानना ।
फिर भी, पी ले, प्यारे,
तुरत गट-गट कर तल तक,
न होगी इससे तेरे दुःख मे
जरा भी कमोबेश ।

जनवरी, १९३५

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

न मिल्यो — [illegible], [illegible]
पाता नवी [illegible] उगेळा
[illegible] [illegible] घटू राट पाटे
न माणो दह पिशूल सो थया,
एवी पणीये गयरा सपाटे
रजू थतो, जे अगयार दरना
जाणे न छाले न, पणी ज तुच्छनी
अने वीजीये परगव्यु यातो
थती पणी सानगी—अर्धसानगी
विटयणाओ सुधराईती, पीडा

पांचाली

शहर की जाज्वल्यमान रोशनी
जिनके मीठे जीवन-तेल से है जलती,
पंडितों की संस्कार-माधुरी
जिनके अज्ञान को देखकर लजाते डूब नहो मरतो
और भद्रलोक का छटा-वैभव
जिनकी गरीबी का उड़ाता है ठट्ठा
ऐसे रंक, आधे ढँके
अँधेरे मे दूर रहते मजदूर ।

जाता वहाँ रोज रात को लालटेन लेकर
उत्साह से कोई युवक, जलाता
निरक्षरों मे अक्षर–ज्ञान–दीपक
सब युवक, कुछ बुजुर्ग भी,
टोले में मिल कर, गोल बनाकर बैठते ।
बारहखड़ी, अंक और जोड-बाकी
सीख सीख कर, अपनी दरिद्रता के
बुरे आँकडे पढने लगे सदा ।

और मिलकी – कताई की, बुनाई की,
दिन की नई नई बाते सुनाते ।
किसका मुकादम बहुत चिल्लाता है
और किसको फिजूल जुरमाना हुआ
इस तरह की कई खबरे तुरन्त ही
वहाँ पेश होती जो शहर के अखबार
न जानते थे, न छापते थे, उन्हें तुच्छ मान कर ।
और फिर दूसरी बाते घर-गिरस्ती की
होती कुछ खानगी – कुछ आधी-खानगी,
म्युनिसिपैलिटी की विडंबनाएँ,

झाडूतनी कोटडीओ तणी अने
चर्चा थती जाहिर तदुरस्तीनी
व्होळु कूडाळु रची एक रात्रिए,
अमासथी काजळकाळी रात्रिए
ज्यारे चन्द्रकी धीरेथी डूकी
के तारलो तेजसळीथी आजणा
अधारना आजी जतो ज आभमा,
एवी वधु श्याम थती ज रात्रिए,
वेठा हता सौ वचमा मूकी दीवो
प्रसारता चौदिश तेज झाखु
कतायला, मेलथरोथी वासता
काळा शरीरो भणी आख खेंचतो
धीरे रही निश्कमित्र पूछतो,
नाह्याविनाना अही कोणकोण, कहो ?
करो ऊचा हाथ!' अने टपोटप
ऊचा थया हाथ, रची लघु वन
खिजाईने ए हितमित्र बोल्तो,
'कहो अही शी सुघराईनी के
मिलो तणा मालिकनी कसूर छे ?'
अने पछी प्रमप्रकापथी घणु
एवु बीजु बोध रूप वदी रह्या
ए दी तणु भाषण खूब चाल्यु
श्राताय वन्ना महीं डूबिया हता,
चानी ऊठ्या त्या मदृय अचिन्त्या
पाने हता (एक ज चार चारीसा
वच्चे) मूकेला नळ पाणीना जे
नामे गणे भीत नवीन तद्दन
टाकी दई आगळथी कूडाळे

पीडा भाड़े की कोठरी की, और
सार्वजनिक तन्दुरुस्ती की चलती चर्चा ।
फिर एक रात को, और एक बड़े गोलाकार में बैठे,
अमा-सी काजलकाली रात को
जब कि टिमटिमा कर धीरे से चौंध कर
कोई तारा तेज को सलाई से अंजन
अँधेरे का आँज गया व्योम मे ।
ऐक और काली बनती हुई रात को
सब बैठे थे, बीच मे दीया रख कर
जो चारो दिशाओ मे फैलाता प्रकाश
सूखे तन, हड्डी-पसली भरे, मैल की परतों से गंधभरे
काले शरीरो प्रति आँख खींचता ।
शिक्षक मित्र धीरे से पूछता है :
"यहाँ बिन-नहाये हुए कौन-कौन हैं, बोलो,
हाथ ऊँचे करो!" और एक के बाद एक झट से
ऊँचे हुए हाथ, एक लघु वन बन गया ।
यह हितमित्र बोला खीझ कर :
"कहिये, अब इसमे म्युनिसिपैलिटी
या मिल के मालिकों का क्या क़सूर है ?"
और फिर प्रेमप्रकोप से बहुत कुछ
नसीहत की और भी कहता रहा उन्हे बातें ।
इस दिन उसका भाषण खूब चला
श्रोता भी वक्ता की श्रेणी मे थे डूबे हुए ।
तभी चौंक उठे सहसा सभी ।
पास ही था (एक ही, चार 'चालों' के बीच)
एक पानी का लगा हुआ नल
सामने के कोने पर, दीवार के नजदीक,
उसे आगे से ढँक कर एक घेरा-सा बना कर

घूमी रही'ती गरवे मजूरणो
'क्या रगमा भग कर्यो!' वद्यु ज को,
बीजे कह्यु, 'आज घणु चलाव्यु!'
'बाकीनु काले!' 'बस, ना! पूरु करो!'
अवाज जाग्या, नव को सुणाया,
ने ऊठीने शिक्षकमित्र चाल्यो
मजूरणोना गरबा भणी, पूठे
'र्‌हेवा दियो भाई, बहु ज आज तो
छे देर कीधी, टटळे बिचारीओ
ए क्या लगी काम पूरु कर्या विना?
क्यारे सूशे?' कोक वद्यु न ते सुण्यु,
ने प्होची पासे, पूछवा जता त्या
मजूरणो सौ थई एक हारमा
दीवाल बाधी निज देहनी ऊभी,
दुधप जोद्धो अटकावतो शके!

'ना, ना'वशो!' बोलती कोक, ने तही
खचाई थभी जईने अचवे
डूबी, धीमे शिक्षक पूछवा जता
'खलेल शाने ?'
'जान'नी आन
न्हाता अहो आपण त्या पूगो जतां
ना लाज आव!' सुणी ए जईन
पाछा फरी शिष्यनी मंडळीमा
पूछ्यु 'क्या स्नानतणा प्रकार आ?'
धीरेथी वाके कह्यु, भाई चीवट
हिर मळे एम ज ते उतारी
वारे मूकीन जरी नाही लेवु,
न आम लन, पछी प्हेरी लेवु!'

मजूरनियाँ गरबा ‘घूम’ रही थी ।
किसीने कहा—‘क्या रंग में भंग कर दिया?’
दूसरे ने कहा—‘आज वहुत लंवा चलाया ।’
‘वाकी कल ।’ ‘बस, जी! पूरा करो!’
कुछ आवाजे उठी, कुछ नही उठी;
और उठ कर शिक्षक मित्र चला
मजूरनियो के गरवे के पास । पीछे से:
“रहने दो भाई, आज तो वहुत ही
देर कर दी, वेचारी राह देखे कहाँ तक
काम पूरा किये विना? कव सोयेगी?”
किसीने कहा, सुना नही
और पास पहुँच कर पूछने गया तो
वहाँ मजूरनियो ने एक हार मे जमा हो कर
अपनी देह को दीवार-सी वना ली
मानो दुर्धर्ष योद्धे को अवरोधती वे।
“ना, न आइये”, कोई एक वोली
अचंभे मे डूवा
शिक्षक धीमे से पूछता:
“क्या मै आपके काम मे खलल डाल रहा हूँ?”
“देखे तो री यहाँ तक आने मे इन्हें,
जहाँ हम नहाती है,
शर्म भी नही आती ।” सुनकर वह पीछे
शिष्यों की मंडली मे जा पहुँचा
और पूछा, “यह स्नान का कैसा है ढंग?”
धीरे से किसीने कहा, “भाई, चीथड़ा
मिला एक ही देह पर, उसे उतार कर
एक तरफ रख कर जरा नहा लेना,
कुछ ओट ले कर, फिर पहन लेना ।”

'ने ए न धोवु?' युवके पूछ्यु रीसे,
'ए न्हाव, ना न्हावु वधु वरावर!'
ने बोलतावत ज चोकी जेने
हैया मही कै वरताई जाता
के कोकनी आख तणे इशारे
पामी जई भेद, वदे व्यथाथी,
'शु सौ चलावे (कदी केम ना कह्यु
ए तो तमे?) एक ज ओढणे अही?'
'ते भाई, क्याथी वीजु? जिदगीथी
चलावीए एकजथी, नवाई ना!'
ने तूत दै फानसने बुझावी,
बीजे खूणे मडळी गोठवी वधी,
ए दी व्यथाथी ऊकळी वळीने
ए वीर, कै रुद्र करुण रेलती
अस्फूट धारे वछूटी ज वाचा
'यत्रो महीथी नीपजे न वस्त्रो,
वस्त्रो वणे छे मजूरो तमारी
वस्त्रो वीटघा एक नहीं, हजारा,
सचेत माथा शरीरे तमारे
—छता तमे ता सहुये नवस्त्रा!
सहस्र ए वस्त्र स्वरवनमूलव्या
डिले तमारे थकी खेंची खेंची
दुःशासनो थाकी रह्या तमाने
पाचालीओ! कया रंग सामना हतो?'
न तान खूटी पन लेश ना तूटी
ए वीर ए रुद्र करुण रेलती
ए धन्यधारा सघने सचेतती
ऑगस्ट १९३२

"और उसे धोती नही ?" युवक ने गुस्से से पूछा,
"इस तरह से नहाना, न नहाना बराबर है!"
और बोलते-बोलते, चौक कर
हृदय मे कुछ समझ मे आते ही,
या किसी भी आँख के इशारे से समझ कर,
व्यथा से बोला —
"क्या सभी निभाते (कभी यह तो आपने
हमसे नही कहा ?) एक ही वस्त्र से यहाँ ?"
"अरे भाई, कहाँ से दूसरा लाये ? जिदगीभर
एक ही से चल रहा है, इस मे कोई नई बात नही।"
और तुरत लालटेन बुझाकर
दूसरे कोने पर मंडली सब जमा की।
इस दिन व्यथा से उबल कर, जल कर
कही वीर, कही रुद्र-करुण फैलाती
अखंड धार-सी यह वाचा फूटी:
"यंत्रो मे से वस्त्र पैदा नही होते,
तुम्हारी मजदूरी ही वस्त्र बुनती है।
लपेटे हुए है एक नही, हजारो
सचेत, महँगे, तुम्हारे शरीरों पर वस्त्र।
— फिर भी तुम सब तो हो निर्वस्त्र !!
ये सहस्र वस्त्र स्व-रक्त के मोल लिये
तुम्हारी देह से खीच-खीचकर
दुःशासन तुम पर कर रहे है शासन।
पाचालियो! कब तक यो करोगी सहन ?
और रात बीती, पर जरा भी नही टूटी
कहीं वीर, कही करुण-रुद्र फैलाती
वह शब्दधारा करती शव को सचेत।

अगस्त १९३२

लूला-आधळानी नवी वात

हतो एक मजदूर न जेना दुःखनी थाय ज याद
अने बीजो पडखे रहता पो वातने-समाजवादी
पेलो रातदी अग गाळीने करे मजूरी काळी,
आधळी एनी आखे राटी पदी न पूरती भाळी
पडोशी एना आख-अवकले परखो ताये रुए,
पूरो पागळो अंगे, एनु कोण धोतियु धुए ?
रात पडे न दिवस ऊगे वे धुमाय वयो रारा,
आगळीवेढे फरीफरी गणता थया केटला फाका
एक थाकीने लोथपोथ थई नसीव निजनु श्रापे,
भद्रवर्गनी चूस बीजो पुरझोमा रही आलापे
श्रापनिसासा, गाळगपाटा वडे न भूखडी भागी,
त्यारे पला भण्यो पडोशो आख ऊचके फागी
" भला शीद तु रातन्‌दाडा कूटे अध मजूरी ?
मारी आखे देख जरी, तें अयनो भरी तिजूरी
धनिकोना भडार भर्या तें, तारे नसीवे डाटा,
तार तु वरते ना, तारी आखे जुगना पाटा "
मजूरे एने ऊचको लीधो उमगयी निज साधे

लॅंगड़े और अंधे की नयी कथा

एक था मजदूर
जिसके दु:खो की नहो हो सकती फेहरिस्त,
पडोस मे रहता था एक दूसरा व्यक्ति
था समाजवादी, सिर्फ वाणी मे।

पहला करता था दिन-रात कड़ी मजदूरी अंग गला कर,
उसकी अंधी आँखो ने कभी नहीं देखी भरपेट रोटी;
पड़ोसी था जो दूसरा, वह आँख और अक्ल से स्वस्थ
फिर भी रोता,

वह था पंगु अंग से, उस की धोती कौन धोये?
रात पडती और दिन होता
दोनो रंक धूमिल होते जाते,
कितने दिन के उपवास हुए
उँगली पर गिनते जाते ।

एक देता शाप अपने जीवन को थकान से चूर हो कर,
दूसरा अलापता है शोषण भद्र वर्ग का कुर्सी पर बैठ कर।
शाप-निश्वास से, गाली-गलौज से भूख नही हुई दूर ।

पढे-लिखे पड़ोसी ने
अपनी अधमुँदी आँखे खोली :
"तू भला दिन रात करता है अंध मजदूरी,
मेरी आँखो से देख,
तूने अन्य लोगों के भरे भंडार।

अनेक धनिको के भंडार भरे तूने;
तेरे नसीब मे डाट,
तू अपना हित नही समझता
तेरी आँखों पर युग-युग की बँधी है पट्टी ।"
मजदूर ने उसे अपने कंधे पर उठाया

लूलो कहे त्यम अधो चाले, — भेगु वेउन राधे
देशप्रदेशे वात ऊडी ने वागी गडगड ताळी,
" जुओ ! घडीमा श्रीमतोनी आवी मोतनी पाळी !"
अधालूलाना कई सघो ऊमटया धरती खोळे,
लूलो सभेथी जीभचाबखे अधाने ढढोळे
मजल चलावे अधो, लूलो वेठो वेठो चाव
कान अधना हता सावदा अवाज शेना आवे ?
लूलाभाई खभे रहीने करता ये कर ऊचा,
फळ झडपी रस चूसी अधने देता सूका कूचा
'जो, भाई धनिकोने लोभे मरवु आपण भूखे,
झटझट तेथी चलो विरादर, चलो सुखे के दुखे !'
नागचूड अधानी कोटे लूलाए जकडावी
सिदबादने दरियाई बुढढाए जेवी रगावी
हरता फरता, काम करता, खाता, सूता रोता,
पडितनो ना चूड छूटती, डिलथी ऊखडे छोता
दूर देवगिरि पर भद्रानी ताळी गडगड वागी
'पगे चालीने ऊचे आटले आपण चडया अभागो
अक्कलवता खभे अन्यने केवा जुओ विराजे !
पगु चडे गिरि पर ! जय प्रभुनो कळियुगेय शो गाजे !

मे १९३५

लॅंगड़ा कहता वैसे चलता अँधा ।
दोनों साथ रसोई पकाते ।
देश-परदेश मे फैल गई बात, तालियाँ बज उठी :
'देखना, अब क्षण मे
श्रीमंतो की मौत का समय आ धमकेगा ।'
अंधे लंगड़ों के कई संघ बने पृथ्वी पर,
लँगड़ा कंधे पर बैठ
जीभ की चाबुक से जगाता है अंधे को ।
मंजिल काटता है अंधा, लँगड़ा बैठे-बैठे खाता है—
अंधे के कान थे चौकन्ने: 'यह काहे की आवाज?'
लॅंगड़े भाई बैठ कंधे पर करते दो हाथ ऊँचे,
तोड़ फल को, चूस कर रस को, छिलके अंधे को देते ।
'देखो भाई; धनिकों के लोभ के कारण
हम भूखो मरते है;
बिरादर, चलो वेग से चलो, सुख हो या दुःख!'
अंधे के गले मे लँगडे की नाग-पाश थी
जैसी सागर के वुढ्ढे ने गले मे सिदबाद की थी।
घूमते-फिरते, काम करते, खाते-पीते, सोते-रोते
पंडित की जकड़ से मुक्ति नही ।
शरीर से उसके उखड रहे है छिलके ।
दूर देवगिरि पर भद्र वर्ग की वज उठी तालियाँ:
इतनी ऊँचाई पर पैदल चलकर
हम चढे है अभागे,
देखो, अकलमंद दूसरों के कंधों पर कैसे बैठे है!
'पंगु लाँघता गिरि गुहन।'—
भगवान की जय
कलियुग में भी गूँज उठती है ।

मई, १९३५

આષાઢની સાંજની ઝરમરોમાં
સુરો તણા રંગધનુ ઉડાવતી
એણેય છેડી ઉરમાંયી ઝરમરો
જીવત આવી સુણી જાહિરાત, થો
વારી મહીંયી જરી બ્હાર ઝૂકતો,
બોલાવતી તાલીસ્વરેથી વાલા
હવે પરન્તુ લયલીન થાન,
ધરાતનુ લેશ રહ્યુ ન ભાન
૨૨ ૬ ૧૯૩૫

મુખચમક

હજારો ચ્હેરામાં મુખચમક તારી મધુરવી
રહેતો ઢૂઢી હુ, મળી તુ ન હતી જ્યા લગી મને,
અને આજે જ્યારે, પ્રિય તુ પડખે વેઠી અહો છે,
હજારો એ પેલા મુખની રહુ ઢૂઢી ચમક હુ
૧ ૧૨ ૧૯૩૭

आषाढी शाम की रिमझिम मे
सुरों के रंगधनु उडाती हुई
उसने भी छेड़ दी उर से फुहारे ।
सुन कर ऐसी जीवन्त इश्तिहारी
खिड़की से जरा झुक कर कोई वाला
बुला रही है ताली-स्वर से उसे ।
किन्तु अब लयलीन है कान,
गाहक का लेश भी रहा नही भान।

२२-६-१९३५

मुख-चमक

हजारों चेहरों में मधुर तेरी मुख-चमक
ढूँढता रहा मैं—
जब तक तू मुझे नहीं मिली थी;
और आज जब, प्रिय,
तू पास मे यहाँ बैठी है,
उन हजारों मुखो की चमक ढूँढ रहा हूँ !

१-१२-१९३७

सीमाडाना पथ्थर पर

हवे जरी उतारु थाक!
ना नसोना फरी पड्यो अथाग!
छे हवे न लांबी वाट,
शा उचाट?
स्पष्ट कानो जणाय गायोना अहा धणी
न दूर गाम छे नही
अहो जरी उतार थाक!
अथ अधाराती त्यों उरे जरीय भार
पथ्थरे जणाय आ पण!
निर्जन था
वगवु ज अन्य स्थान बेसणे?
रम्य ए सिंहासन
विराजवु घडीक एय नी म्हाण?
तरुन हा भले पहाण
अगअगना अनक छिद्रथी छूटेल
वारिधार, हा जलाभिषेक छो ठरेल
न अरण्यपल्लवे रचेल मंडिले
ज शीर्ष शोभजो भले,
भले हजा समृद्धि रव,
आज ता अरण्यमानना वनीश राजवी निराक
ने हसीश राजवी सहुय भूतवालना
अन अनेक आजना—थनार जेह कालना—
हसीश न रचीश काव्यराणी वठ माट माळ,
स्निग्ध ने मीठी रसाळ,
जे धणीक तो गूथी अरण्यवाटडी भरी

सिवान के पत्थर पर

अब जरा उतारूँ थकान—
कैसी नस-नस मे फैल चुकी है अथाह !
अब नही है लम्बी राह
क्यों उचाट ?

स्पष्ट उड़ती दीख रही गोधूलि यहाँसे
दूर नहीं होगा गाँव ।
यहाँ जरा उतारूँ थकान !
अंध-अंधकार की नही है हृदय मे
तनिक भी धाक ।

दिखाई देते पत्थर भी वहाँ !
निर्जन वन मे
अन्य कौनसे आसन पर बैठूँ ?
रम्य इस सिहासन पर
एक घड़ो बिराजने मे भी कैसा चाव ?
तख्त हो चाहे पाषाण,
अंग-अंग के अनेक छिद्रो से छूटी हुई वारिधारा
हो जलाभिषेक भले,
और अरण्य-पल्लवो द्वारा रचित उष्णीश से ही
सर शोभित हो,
भले ही हो समृद्धि रंक,
आज तो बनूँगा अरण्यमात्र का राजा निःशंक ।
हँसूँगा भूतकाल के तमाम राजाओं के नाम
और अनेक आज के–होनेवाले कल के–
हँसूँगा और रचूँगा कवितारानी के कंठ के लिए माला,
स्निग्ध और रसपूर्ण,
जिसका अधिकांश गूँथा

एकएव एम क डगेडगे करी
आवी वायुल्हेर ! हाश !
एव आश
–छो न प्होचवु ज घेर,
ठेर ठेर
छो ठरेल आयडी भमी भूली ज थाकवु,
मळे परतु क्याक श्रातिस्थान एक आहवु,
ज्या न जिदगी धमाल,
ज्या नडे न आजकाल,
ज्या विरामीने घडी व्यथा बघो भूली जवी,
अने वनी रहेवु पडना महान राजवी

कोण ए ? तु कोण जाय रे ?
न जाणतो तु कोण सीममा अहो फरे ?
हु छु आही राजवी,
आण एक मारी आही मानवी
ने समीप आवीने वद्यो प्रजाजन,
'सुणोजी राजन !
पूवमा त्रिलोकसग,
उत्तरे फ्तेहखा तणा जुओजी ठाठरग,
पश्चिमे खुशालभानी जागीरे जरी न आच,
दरखणे दिलेर, त्या डुवाडी तो जुओ ज नाच
पछी रही वडेरी सीम, आपनी, अहा !
राज वीण राजवी
थवा दीसे छ नेम आपनी महा !
आपनी क्होजो आण क्या रही ज मानवी ?'

रे अजाण !

अरण्य की पगडंडी पर, एक-एक कर के
कितने ही क़दम भर के ।
आई वायुलहरी ! हाश !
एक आस :
—भले हो न पहुँचा जाए घर,
स्थान-स्थान पर
चाहे रुकते, भटकते पथ भूलते थक जाऊँ,
फिर भी यदि मिले कही ऐसा एक श्रातिस्थान—
जहाँ न हो जीवन का शोर-शरावा,
जहाँ वाधा न बनें आज-कल,
जहाँ घड़ी के विराम में
भूल जाना है सारी व्यथा,,
और बना रहना स्वयं का सम्राट् ।
कौन रे ! तू कौन जा रहा ?
नही जानता तू यहाँ सीव में कौन घूम रहा ?
हूँ मै यहाँ राजा,
माननी होगो यहाँ केवल मेरो हो आन ।
और, समीप आकर वोला प्रजाजन,
'सुनियेगा राजन् !
पूर्व मे त्रिलोकसिंह;
उत्तर मे फतहखाँ का देखियोजी ठाठरंग,
पश्चिम मे खुशालभा को जागीर को नही कोई आँच ।
दक्खन मे दिलेर है, देख लो जरा डुबो कर चोंच ।
वाद मे रही नामवर सींव, आपकी, अहा !
विना राज्य राजा
होने का इरादा आपका दिखाई देता वड़ा !
कहियेगा आपकी आन क्यो मानी जाए ?'
अरे अनजान !

देखतो न आ पहाण ?
ए तमाम जागीरी,
नग्त ए ज,
भोम ए ज,
अंतहीन बिन्दु थी निसीम आ जहागीरी

'जो, बडी जहांगीरी
कबूल, एक वार ना, हजार वार – लाख वार !
रे परंतु ए पहाण-
नी पूरी न आपने दीसे पिछाण
त्यां हतुं विचित्र वृक्ष
ग्रीष्ममां न – छप्पनेय ना – थयेल जेह रुक्ष
आभतारला रिझावी ढाळतुं ज बोझणां,
डाळडाळ पत्रीमाळना किल्लोलझूलणां

त्यां हरेक साल टोळी एक जगती,
वर्षमां अचूक एक वार आ दशे वळी,
वृक्षने लळीलळी,
पायलागणां करी अनेक वार भेटतो,
वायमां लईलई ज नेणवारि सींचतो
—रे अमे भूला पड्या,
खडखड आथड्या,
क्यांथी आम, बाप, आहो तुय ते भूलुं पड्युं,
नड्युं तने अरे अमारुं भाग्य रे भूंडुं ?—

वार पढीओ भला कहे छ के वही गई,
पुराण वक्ष पारणे घडी रमी गई
हुवे कहुं पछीनी वात,

देखता नही यह पाषाण ?
यही तमाम जागीरदारी,
तख्त भी यही, भूमि भी यही,
अंतहीन बिन्दु-सी
नस्सीम यह जहाँगीरी ।
‘ जी बड़ी जहाँगीरी ।
क़बूल है, एक बार नही, हजार बार—
लाख बार !
लेकिन इस पत्थर की
नहीं लगती आपको पूरी पहचान ।
यहाँ था विचित्र वृक्ष
ग्रीष्म मे भी—अकाल मे भी
जो नहीं हुआ रुक्ष ।
सितारो को रिझाकर झलता जो व्यजन,
डाल-डाल पंछी के नीड के किलकभरे झूले ।
हर साल यहाँ एक टोली जंगली,
एक बार अवश्य इस दिशा में मुड़ कर,
वृक्ष को झुक-झुक कर प्रणाम करके
अनेक बार भेंटती थी,
अंक मे भर-भर कर अश्रुजल से सींचती थी ।
—रे हम भूले पड़े,
खंड-खंड भटके,
कहाँसे ऐसे तात, यहाँ तू भो भूला पड़ा,
हमारा दुर्भाग्य तुझ पर भी फला ?—
बारह पीढियाँ, कहते हैं कि वह गई,
पुराने पेड़ के पालने मे
घड़ीभर के लिए खेल गईं।
कहता हूँ अब आगे की बात—

एहने थई हशे पूरी न पेढी पांचसात
ए महान वृक्षनी,
धरानुं मूळ शोषती,
विशाळ छांय व्यापती
प्रभातना गुलालना गरासगाममां,
सांजना समे निलाम्बरंग घेरी सीममां
थेय जागीरी थये हतुं पुराणुं हाडवेर
तेनुं ठारवा ज झेर,
युपिन आ त्रिलोचना पहोळा सूसे
गहे अहीं ऊंडा उरे पडेल घा दझे,
विशाळ पेलुं झाड जेह वेरोसीमनां
ढोर ने मनुष्यना
ठारतु ज वेसणां,
एहने उगेढो नाम्यु ता ज माईपूत हु!
हुतें वेण मोकल्यु
अमारी बापजागीरी मही पडे छ पूडी छाय,
जातआबरू परे फरी वळे छ वूरी झाय
अय साल आविया मुसाफरो,
ठाल्वे वही जई भर्या उरो?
गाती ल्यावो प्हाण आ, पछी
समाधि वृक्षनी रचो
(जमीनदारनेय सीमचिह्ननी पीडा वची)
ने मुसाफरो—बधाय जिंदगी-मुसाफरो—
देशदेश खडग्पड ए ज जेमनां घरो,
भूमिनी बिछात ने विशाळ आभछापरा,
मिल्कते कसायला खुदा दीधेल बावडा—
एहवा मुसाफरो,
घडीक आहीं ठेरो ठालवो जता हता उरो

इसे न हुई होगीं पीढ़ी पाँचसात—
उस महान वृक्ष की
छाया विशाल फैलती,
प्रभात मे खुशाल की जागीर के गाँव में,
शाम के समय त्रिलोकसिह की सीव में ।
दोनों जागीरों के बीच था पुराना सख्त वैर,
शान्त करने उसी का जहर
उस त्रिलोक के वुजुर्ग को सूझी युक्ति ।
कहा: दिल मे पड़ा गहरा घाव
इसी से भर जायेगा,
शत्रु की सीमा मे वह विशाल वृक्ष
पशु और मनुष्य को
छाया का सुख देता,
उसे ही उखाड़ दूँ तभी मै माईपूत!
तुरत संदेश भेजा:
हमारी जागीरदारी में पड़ती है बुरी परछाँई,
हमारी आबरू पर फैल जाती है सड़ी झाँई ।
दूसरे साल आए मुसाफिर,
कहाँ रखें अपने भरे हृदय?
खोज लाए यह पत्थर, और
वृक्ष की समाधि रची।
(जमीदार की भी सीमाचिह्न की चिता टली)
और मुसाफिर—तमाम जिदगी-मुसाफिर—
देश-देश खंड-खंड ही जिनके घर,
भूमि की बिछावन और विशाल व्योम-छप्पर,
मिल्कियत मे सधी हुई खुदा की दी बाँहें—
ऐसे मुसाफिर
जो घड़ी के लिए यहाँ ठहर कर

लेई वृक्षआशरो
हवे न अय को विराम
ने हवे न आयखानु अय कोई अथुठाम
मात्र आ सूको पहाण
ना नवीन लोकने रहो हवे कई पिछाण
होय ! पेढीओ भला घणी घणी वीती गई '

अने निशा-नी छाय शो निशामही
वृद्ध ए शमी गयो,
एक, एकलो ज हु रह्यो
हु रह्यो न राजवी
फरी थयो ज मानवी,
ना–रह्यौ हवे न मात्र मानवी,
प्राणीमात्र माही एक प्राणी हु बनी रह्यो
न त्या ज थभियो
स्यूल प्राणहीन जे गणाय ते बधायनो
अग शो बनी रह्यो
विश्व आ चराचरे
रेलता, असीम खेलता, महान प्राणनो
अश शो श्वसी रह्यो
देश ने दिशा तणी,
काळनी, कृतान्तनी,
चित्त, वित्त, मित्र, पुत्र, प्रेयसीतणी
ठेर ठेर घेर घेर साकडी
तूटी बधीय सीम छोडी भोमव्योम,
ने श्वसी रह्यो असीम रोमरोम
१२-९-१९३५

रख जाते थे हृदय, लेकर पेड़ का आसरा ।
अब नही अन्य कोई विराम
और अब नही आयु का अन्य कोई अश्रुस्थान ।
केवल यह सूखा पाषाण ।
नए लोगो को न रही अब कोई पहचान ।
और क्या ! भला, पीढियाँ बहुत बहुत बीत गई । '
और निशा की छाया-सा, निशा मे
वृद्ध वह समा गया;
एक, अकेला मै ही रहा ।
मै रहा न राजा ।
पुनः हो गया मनुष्य,
ना — रहा अब न केवल मनुष्य,
हो चुका प्राणीमात्र मे मै एक प्राणी ।
न ठहरा केवल वहाँ,
स्थूल प्राणहीन जो कहलाता उस समग्र का
अंग-सा हो चला !
इस चराचर विश्व मे
बहते, असीम खेलते, महान प्राण के
अंश की तरह श्वसित हो रहा ।
देश और दिशा की,
काल की, कृतान्त की,
चित्त, वित्त, मित्र, पुत्र, प्रेयसी की,
स्थान-स्थान की, घर-घर की
टूटीं तमाम सँकरी सीमाएँ,
भूमि-व्योम छोड़ कर
श्वसित कर रहा
रोम-रोम से असीम को ।

१२-९-१९३५

कुतूहल

मुसाफरी गाडी विशे करता
जोया क्युं छे शिशु जेम, नानो
हतो शिशु त्यारथी कौतुके में
उघाडी बारी तणी आरपार

समीपना वृक्ष प्रतीप वेगे
सरी जता दष्टिसमक्षथी रे,
परतु पेली क्षितिजे जणाती
साथे सरती वनराजि वे घडी

आयुष्यनी अल्प मुसाफरीमा
समीपना जे स्वजनो सदा ते
सामी दिशाए सरशे शु ? मात्र
साथे घडी लोकसमूह दूरना ?

सप्टेम्बर १९३८

कुतूहल

यात्रा करते रेलगाड़ी से
देखा किया है मैंने, कौतुक से
शिशु की तरह, था मै शिशु तब से,
खुली खिड़की के आरपार ।

समीप के वृक्ष प्रतीप-वेग से
खिसक जाते दृष्टि के सामने से
किन्तु उस क्षितिज के पास दीखती
वनराजि
सरकती है साथ साथ दो घड़ी ।

जीवन की अल्प यात्रा में
निकट के जो स्वजन,
क्या खिसकते रहेंगे वे सदा
विरुद्ध दिशा में ?
और साथ रहेगें घड़ो
केवल दूर के लोकसमूह ?

सितम्बर १९३८

नसो सरोवर उपर शरत् पूर्णिमा

पेलो आछा धूमस महीयो शृंगमाला जणाय,
नामी नीचा तटतरु चूमे मंद वारितरंग,
व्योमे सोत्या जलउर झीले अभ्रना शुभ रंग,
सूतु तोये सरउदरमां चित्र काई वणाय
वीचीमाला सुभग हसती ज्यां लसे पूर्ण चंद
शीळी मीठी अनिललहरी वृक्षनी वल्लरीमां
सूती'ती ते ढळती जळसेजे मूके गात्र धीमा,
सकोरीने परिमलमृदु पल्लवप्रान्त मंद

त्यां तो जाणे जलविधु तणा चारु संयोगमांयी
हृत्तत्रीने कुसुमकुमळी स्पर्शती अंगुलि को
अर्धां मीच्यां नयन नमतां गान आ आव्यु क्यांयी?
एकान्तोमां प्रकृति क्वती मंजु शब्दावलि को
एवे अंत श्रुतिपट परे धन्य ए मंत्र रेले
सौन्दर्यो पी, उरझारण गाशे पछी आपमेळे

ऑक्टोबर १९२८

नखी सरोवर पर शरत्-पूर्णिमा

झीने झीने धूमिल मे दीख रही है वह शृंगमाला,
चूम रहे ह नीचे, मंद वारितरंगो को नामी तटतरु,
ग्रहण कर रहा है जल का हृदय
नभ मे खिले अभ्र के शुभ्र रंग,
सो रहा है सर-उर
फिर भी बुने जा रहे उस मे कई चित्र ।
सुभग हँस रही वीचिमाला देख कर पूर्ण चंद्र को,
वृक्ष की वल्लरी में सो रही थी जो
ठंडी-मीठी अनिल-लहरी
अब नीर की मृदु सेज पर ढल पड़ती है,
देकर नवजागृति परिमल-मृदु पल्लवप्रान्त को ।
ज्यो ही होता सलिल-शशि का चारू संयोग,
कोई कुसुम-कोमल अंगुलि देती हृ-तंत्री को स्पर्श ।
झुक जातें अर्धमीलित नयन,
कहाँसे आ-पहुँचा यह गान ?
कह रही प्रकृति एकान्तों में कोई मंजुल शब्द ।
ऐसेमे अंत:श्रुतिपटल मे जग उठता धन्य मंत्र :
'सौदर्यो को पी, उर-निर्झर फिर स्वतः गायेगा ही।'

अक्तूबर ११२८

ज्ञानसिद्धि

[एक वज्ञानिकनु आत्मकथन]

प्रयोगशाळा, मुज धून, ने हु
त्या वेसीने सूनी गुफा मही में
चक्रो नभोमडळना चलाव्या,
ने भूमिना भेद अगम्य पाम्यो
तत्त्वो कर्या हाथ थई नवा नवा
ने विश्वना गुप्त बळोघ नाथ्या
सिद्धान्त जूना थई फोक ठेरव्या,
बीजा नवा त्या निपजावी थाप्या
व अयहोणी जगनी क्रियाओ
सजीव कीधी गूथी सत्यसूत्रथी
ने मानवोनी खोलवी मनीषा,
विराटदृष्टि अणुनेणमा पूरी
लोको वद्या विश्व निगूढमा शो
चलावतो शासन चक्रवर्ती!

हु चक्रवर्ती? मुज कायधूनमा
मळी क्षणे ना कदी ए विचारवा
क्षेत्रो खूले दष्टि कने नवा नवा
ने चित्त दोडे रचतु नवा चीला
घडीकमा को नभकेतु पूठे
असीमनी केडी परे जई चडे
बीजो क्षणे आतरडा घराना
वलोवतु भीतर पामवा मथे
ने ना मळी एक क्षणे विचारवा,
के विश्वनु शासन हस्त मारे

ज्ञान-सिद्धि

[एक वैज्ञानिक का आत्मकथन]

प्रयोगशाला, अपनी धुन और मै ।
वहाँ सूनी गुफा मे बैठ कर मैंने
नभ-मंडल के चक्र चलाये,
और भूमि के अगम्य भेद पाये ।
कई नये-नये तत्त्व हथियाये
और विश्व के गुप्त बल नाथे ।
जीर्ण सिद्धांत कई व्यर्थ सिद्ध किये
दूसरे नये वहाँ पैदा किये, स्थापे ।
जग की कई अर्थहीन क्रियाओं को
सजीव बनाया गूँथकर सत्य-सूत्र से ।
मानव की मनीषा खिला कर
परमाणुनेत्र मे विराट दृष्टि भर दी ।
लोग बोले : इस निगूढ विश्व मे
कैसा चला रहा शासन चक्रवर्ती ?

मै चक्रवर्ती ? अपनी कार्य-धुन मे
नही मिला क्षण भी ऐसा सोचने को ।
दृष्टि के आगे खुलते नये-नये क्षेत्र
और चित्त दौड़ता रचता हुआ नयी लीके ।

घड़ी मे किसी नभकेतु के पीछे
असीम की पगडंडी पर जा चढता ।
दूसरे क्षण मे धरा की आंतडियोंको
बिलोता हुआ भीतर को पाने का यत्न करता ।
क्षणभर भी नहीं मिला सोचने को कि
विश्व का शासन है मेरे हाथों मे ।

कह्यु जगे तो प्रभु एक चालक,
प्रभुथी बीजो प्रभुनी लीला बधी
नाणीपिछाणी अमने जणावतो
विज्ञानी साचो अहो तत्त्वशासक
मने पूछो तो,—न गुमान लेखशो—
प्रयोग मारा अधूरापूरा जे
फळ्याटळ्या ते सहुमा कहीय मे
ना तत्त्व दीठु प्रभु नामनु क्दी
मने परतु प्रभुनी न ईर्ष्या
के ना चहु क प्रभुथी हु रक्षा
कोणे, प्रभुए अथवा बीजे रची
सष्टि, मने ए परवा नही क्दी
हु एटलु जाणु मनुष्यने मळी
दीधी अमे जे कई सष्टि एटली
फळो पडता तरुथी दीठा जने,
खूलेल को निद्रित केरी आखथी
विज्ञानीए घेन उतायु त्यारथी
फळो द्रुमोथी पडता थया जगे
विज्ञानहीणी हती ना हती समी
सृष्टि, मने सजकनी न ईर्ष्या
हु क्षेत्र मारे वसतो अचप
अस्तित्वमा सत्य ज एक थभ
ए सत्य काजे न घडीय जपवु
ज्वालामुखीना मुखमा प्रवेशवु
खूदी रणो, भेदी वनो विहामणा,
टढोळवां उन्नत शग अद्रिना
ने पेंगडामा स्थलकालने लई
ब्रह्माड केरा तळिया तपासवा

जग ने तो कहा : प्रभु है एक चालक,
प्रभु के बाद, प्रभु की सारी लीला
जॉच कर हमे जतानेवाला
यहाँ है विज्ञानी ही असल मे तत्त्व-शासक ।
यदि मुझसे पूछे—न मानना इसमें मेरा गुमान—
मेरे जो अधूरे-पूरे प्रयोग है—
फलित हुए या न हुए उन सबमे कही
मैंने प्रभु नाम का तत्त्व कभी नही देखा ।
नहीं है किन्तु मुझे प्रभु की ईर्ष्या ।
या नही चाहता मै प्रभु से रक्षा ।
किसने, प्रभुने या और किसीने रची हो
सृष्टि, मुझे इसकी कभी परवाह नही ।
मै इतना जानता हूँ कि मनुष्य को मिली
सृष्टि जितनी हमने उसे दी ।
वृक्ष से फलो का गिरना देखा मनुष्य ने ।
खुली हुई किसी निद्रित की आँख से ।
विज्ञानियों ने तंद्रा उतार दी
तब से जग में वृक्षो से फल गिरने लगे ।
विज्ञानहीन सृष्टि थी न-होने जैसी
मुझे सर्जक से ईर्ष्या नही ।
मैं अपने क्षेत्र मे अ-कंप बसता हूँ
अस्तित्व मे मेरे है सत्य ही एक स्तंभ ।
इस सत्य-कार्य मे एक घड़ी भी न ठहरना,
ज्वालामुखी के मुंह मे प्रवेश करना,
रेगिस्तानो को रौद कर, भयानक वनों को भेद कर
झकझोरने है अद्रि के उन्नत शृंग ।
और पैग में लेकर स्थल-काल को ।
जाँचने है ब्रह्मांड के तलवे ।

सौ सत्य काजे लगनी ज एक ए,
तमा कशी ना प्रभुनी, न कीर्तिनी
आजे अरे! आ ज गुफा महींथी
शु तत्त्व लाध्यु मुजने नवु नवु,
सौ पूर्वना सत्य जूठा ठरावतु,
भींजावतु जीवनकाय अश्रुमां!
प्रकाश जेने मनथी गण्यो हतो,
मानी मनाव्यो वळी अन्यने हतो,
अजायला जेहथी लोकलोचन
हु चक्रवर्ती क्षण बे ठर्यो हतो,
प्रकाश ए ना, पण अंधकार!
ए सत्य ना, निस्तल सूनकार!
ने जिन्दगीनी कपरी तपस्या
ए दैवनी निष्ठुर को समस्या!

रे दूर था ज्ञान नवीन क्रूर!
तने दया ना मुज यातनानी
जो जो ऊंचा कीर्तकोट तूटे,
ने पात्र मारु प्रतिभानु फूटे!
प्रकाश ज्यां होय, न तो तु ज्ञान
जूना उथापी नव सत्य थापे?
तु तो बतावे करी अट्टहास्य
अंधारघेर्यु मुज पूर्वकार्य
आवे स्मृतिमांही महानुभाव ए
गेलेलियो वेठ्यु ज खूब जेमणे
आकार आ आपणी पृथ्वीकेरो
मानी स्वयं गाळ मनाववा जता
—जने वदी चोरस हात पृथ्वी
तो ए जने व्यर्थ शु यातनाओ?—

सव कुछ सत्य के लिए; यही है एक लगन,
न प्रभु की, न कीर्ति की परवाह तनिक भी।
आज अरे! इसी गुफा मे से कैसा
नया नया तत्त्व मुझे मिला,
पुराने सव सत्यो को झूठ सिद्ध करता हुआ,
जोवन-कार्य को अश्रु मे भिगोता हुआ।

जिसे मन से माना था प्रकाश
स्वयं मान कर, औरो को मनाया था,
जिससे चौधिया गई लोगो की आँखो मे
ठहरा था मै चक्रवर्ती दो क्षण के लिए;
नही है वह प्रकाश, अंधकार है!
यह तो सत्य नही, है गहरा सूनापन!
और जिंदगी की कठिन तपस्या
है दैव की कोई निष्ठुर समस्या!

रे नवीन क्रूर ज्ञान, दूर हो
तुझे नही है दया मेरी यातना पर।
देखो देखो टूट रहे है ऊँचे कीर्ति-कोट
और फूटता यह मेरी प्रतिभा का पात्र।
हो यदि प्रकाश, तो तू क्यो नही करता
पुराना हटाकर नया सत्य स्थापित?
तू तो अट्टहास करके बताता है
अँधेरे मे लिपटा हुआ मेरा पुराना कार्य।

स्मृति मे आये वे महानुभाव
गैलीलियो, जिन्होने हमारी पृथ्वी का
आकार गोल स्वयं मान कर
और अन्य को मनाने मे, खून सहन किया।
और अगर कही पृथ्वी चौकोर होती
तो वे यातनाएँ क्या व्यर्थ हो जाती?

दिक्काल ने मानवचित्त, — एनु
सिद्धांतमां तारुण्य में रसायण,
पीधु घणे, जीरववा क्यु वळी,
मने ज हा! आज थयु अपथ्य

वाळी लउ ए भ्रम ने बचावु
संसारने ए थकी, छो न हु बचु
— मीठो परंतु भ्रम आम अंत्यनो
रे तोडवो एय नवो न शु भ्रम?

शु जाणवु, आ मुज क्रूर शंका,
काळे करी एय ठरे नवो भ्रम!
सकेलो, आवा भ्रमने अधीन थै,
शु ढोळवु जीवनकार्य शून्यमां? —
अहो अहप्रेम! मीठी स्ववचना!
कयायी सूझे आ गणितो ज कारमा?
शा प्रश्न, रे शी दलीलो, शु दभो?
शा तर्क, शी कीर्ति? बस् एक सत्य

तूटो, तूटो, सौ भ्रममाळ तूटो,
जूठा तूटो कीरतकोट सर्व
तूटो भले सौ स्थलकालभीतडा,
के चित्त तूटो मुज विश्वमापतु
परंतु पाया सतना तूटो ना,
ने भाविआशा लगीरे खूटो ना

में जे गणो सत्य हतु ज सारव्यु,
ते छो गयु फोक, न खालीहाथ हु
भूली, भमी, आखर मार्ग अंते
थै रहेवु निर्भ्रमित एय अमोघ ज्ञान

दिक्काल और मानवचित्त का खीचा
मैने सिद्धांत मे रसायन
अनेको ने पिया उसे और पचाने का यत्न किया ।
केवल मुझे ही आज हुआ अपथ्य ।

अब वापिस ले लूँ यह भ्रम, और
संसार को इससे वचाऊँ, भले मै न बचूँ ।
पर इस तरह अन्य का मधुर भ्रम तोड़ना –
यह भी क्या नही है एक नया भ्रम ?

कौन जाने, यह मेरी क्रूर शंका भी
समय वीतने पर सिद्ध हो नया भ्रम !
सब समेट कर इस तरह के भ्रम के अधीन होकर
क्या जीवन-कार्य शून्य मे उँडेल देना है ?
अहो अहंप्रेम ! मीठी आत्म-वंचना !
कहाँ से सूझते ये भीषण ही भीषण गणित ?
कैसे प्रश्न, कैसी दलीले, कैसे दंभ ?
कैसे तर्क, कैसी कीर्ति ? बस है एक सत्य ।

टूटो, टूटो, सारी भ्रममाला टूटो,
सारे झूठे कीर्ति-कोट टूटो ।
स्थल-काल की सभी क्षुद्र दीवारे टूटो ।
टूट जाए चाहे विश्व को नापनेवाला मेरा चित्त भी !
परंतु सत की नीव न टूटो
और भावी आशा जरा भी न कम हो ।

जिसे मैने सत्य जान कर अब तक निकाला था सार
वह भले व्यर्थ हो, पर मै नही खाली हाथ ।
भूल कर, भटक कर, आखिर मार्ग के अन्त मे
हो पाना निर्भ्रमित, यह भी है अमोघ ज्ञान ।

मई, १९३५

एनी दीठी न नजरे मुखमाधुरी में
देखात तो घणीय डोक फिरावतामा,
जोयु न किंतु फरीन जरी, ना ज जोयु
ने तोय ते क्षणक्षणे मुज अंतरे तो
ए सौम्यरेख रसमूर्ति तरे अनस्त

एना हशे प्रणयकामणपूर्ण नेण,
धीरे ढळी ऊछळतुय हशे ज हैयु
दीठेल आ नयनथी न स्वयं अरे में,
तोये क्हु अमृतकोश हशे ज हैयु
वेगीली लोकल तणा धबकार ताले
धीरे धीरे उछळी मस्त ढळी रहतु

हु तो शु जाणु, पण सामी ज बेठके का
बेठेल वद्ध, जरी फेरवी क्षीण नेत्र
जे आमतेम, क्दी झोकुय खाई लेता
ए क्षीणलोचन मही कहीथीय त्या ता
मे जाई, जाई सहसा भभूक्तो आग
आखो करी जरठ कांटिक्त राम केरो
टाळी मने मुज पूठे कई ताकी जोतो,
ने क चिरतपित चक्षुथी पी रहता
में पूठ फेरवी न जोयु स्वयं जरीके
बे क हती जरूर ना मुज आख सामे

लोकल ट्रेन मे

देखा नहीं अपनी आँखों मैंने उसकी मुखमाधुरी को।
जो दिखाई देती अवश्य उस ओर मोड़ते ही चेहरा;
किन्तु नही देखा थोड़ा-सा घूम कर, देखा ही नहीं उसे।
फिर भी मेरे भीतर तो प्रतिक्षण अनस्त तैर रही
वह सौम्य-रेख रस-मूर्ति ।

होंगे उसके प्रणय-मोहिनी-भरे नयन,
ढल कर धीरे, उछलता होगा हिया भी,
देखा नही इन आँखो से स्वयं मैंने
फिर भी कह सकता हूँ :
अमृतकोश ही होगा उसका हृदय,
जो वेगभरी इस गाड़ी की धडकन-ताल से,
धीरे धीरे उछल कर मस्त ढलता रहता ।

मैं तो क्या जानूँ, पर सामने बैठक पर
बैठा जो वृद्ध;
जरा फेर कर इधर उधर क्षीण नेत्र
ले लेता बीच मे झपकी भी;
इतनेमे उसके क्षीण नेत्रों मे पता नही कही से
मैंने देखी, देखी सहसा भभकती आग ।
कोटि कोटि जरठ रोम की करके आँखें,
टाल कर मुझे अपनी ही ओट मे,
ताकता रहता
और कितने ही चिर तृषित नेत्रो से पीता रहता ।

पीठ फेर कर देखा नही मैंने तनिक भी
या नही थी जरूरत ही ।

ए वृद्धना परम तृप्त प्रसन्न नेत्रे
में एक जोई छबी ढाळती लोल मस्त
लावण्यमूर्ति मुज नेत्रथी जोई जाते
में होत, तेथी अदका रसरूपरंगे
ए काळजर्जरित नेत्र मही निहाळी
ने एक वार नीरखेल तही हजीये
जोया करु उर भरीभरी नेण एना,
विश्वो उछाळी ढळतु वळी मत्त हैयु
ने व वसत लचती करवेल रम्य

सप्टेम्बर, १९३६

मौन

मारा अरे मौनसरोवरे आ
को फेंकशो ना अहीं शब्दकांकरी
मारु वींटाने स्थिर प्राणपुष्प
तरंगनी वर्तुल भूंगळामां

मेरी आँखों के सामने
उस वृद्ध के परम तृप्त प्रसन्न नेत्रो में
मैंने देखी एक छवि डोलती मस्त कमनीय ।

लावण्यमूर्ति को अपनी आँखो देख पाता मै
जिस रूप मे, उससे अधिक रस-रूप-रंग मे
देखा उसे उन काल-जर्जरित नेत्रों में ।
देखा उसे जहाँ एक बार,
अब भी रहूँ देखता, भर-भर कर हृदय
उसके नयन,
विश्वों को उछालता हुआ ढलता मत्त हिया,
और वसंत के लोच से भरी दो रम्य करवल्लियाँ ।

सितम्बर १९३६

मौन

मेरे इस मौन-सरोवर मे
मत फेंकना कोई शब्द-कंकरी,
लिपट जाएगा मेरा स्थिर प्राण-पुष्प
तरंग की वर्तुल-शृंखला मे ।

अगस्त १९३०

आत्माना खंडर

[सॉनेटमाळा]

१ ऊगी उषा

आयुष्यनी अणप्रीछी मधुप्रेरणा शी
ऊगी उषा सुरभिवेष्टित पूर्व देशे,
आगंतुके पुरमहेलअगाशीओमां
ऊंचे रही नीरखी म्हालती पद्मवेगे
ने टेकरीशिखर रंगपरागछायुं
प्रेरी रह्युं उरमही नवला ज भाव
नीचे उछाळी जरी फेनिल वेशवाळी
घुराटतो वितरी जाग पुराण सिंधु

आगंतुके नीरखी टेकरी चोटी रहेती
लीला शहरतणी विस्तरती सुदूर,
ऊंचे सर्यो क्षितिजधुम्मस भेदी सूर्य
कोलाहलो पुर तणा पगवा जतां, त्यां
गर्जी रह्यो अतिथिनो पुलकंत आत्मा
'आ भूमिनो वनीश एक दी हुं विजेता'

२-९-१९३५

२ अहम्

गुहा अंतरकेरी भरीभरी अहंघोष स्फुरतां,
जवा विश्वे व्यापी जदकी वधती आत्मनो व्यथा,
यत्‌ हैयाने जे स्थलस्थल कहुं मारी ज कथा,
प्रयाणार्थे घेलो कदम भरवा प्राण पूरतो

आत्मा के खडहर

१ ऊषा

सुरभि-वेष्टित पूर्व देश मे
जीवन की अनपहचानी मधुप्रेरणा-सी
ऊषा उदित हुई ।
देखा आगंतुकने उसे
पुरमहल की अट्टालिकाओ मे ऊँचे
पद्मवेश मे विहरते ।
रंग-पराग-रंजित पहाड़ी की शिखा
जगा रही हृदय मे नए-नए भाव ।
नीचे, उछाल कर जरा फेनिल अयाल
घुर्रा रहा बल बिखेरता पुरातन सिन्धु ।
आगंतुकने देखी टीले से सटी हुई
सुदूर फैलती शहर की लीला ।
क्षितिज के धुधलके को भेद कर सूरज सरका ऊँचे ।
नगर का कोलाहल उमड़ कर उठता ऊपर
तभी गरज उठे अतिथि के पुलकित प्राण:
'बनूँगा मै एक दिन इस भूमिका विजेता ।'
२-९-१९३५

२ अहम्

भीतरी गुहा को भर-भर कर स्फुरित हो रहा अहंघोप,
आत्मा की अदम्य व्यथा बढती,
विश्व मे व्याप्त हो जाने को ।
चाहता हृदय कि कहूँ स्थल-स्थल निज कथा,
प्रयाण के लिए कदम उठाने को व्याकुल पागल प्राण ।

चहे अगो मीठा सुमसुरभिना पुंज रचता,
अने शीर्षे वाछे मुकुट धरवा शृंग गिरिना,
ऊंडो ऊंचे, मूठी उडुनी भरीने माल्य रचवा
लघु चित्ते मोटा उरछलकता कोड मचता

महा विस्तारो आ अमित विहरे कालस्थलना,
खचेला सौन्दर्ये, पण हु विण सौ शून्य सरखा
अहो ऊर्मीने मे करी ज रचना भावि-भतनी
अने मारा जोये स्थल सकलने जीवनो मळी
हतु सौ ए साचु! हती पण खरी हुनी ज मण
विना हु ब्रह्माडे क्वण करते विश्वरमणा?
६-९-१९३५

३ सत्त्व पुंज
म्हेरामणो गरजता अही सामसामे,
आ एक गेबी कई तालथी नतनारो,
हीचोळतो हृदयमा अणमूल रत्न,
उल्लासहासभर मेघपिता समुद्र,
ने आ विराट वळी मानवसिंधु नित्ये
गर्जंत, ओटभरती मही मस्त, ल्हेरे
दे यत्र ताल, अणयभ प्रवृत्तिगर्भे
छूपा कई हृदयरत्न झुलावो रहेतो

झूनी शशाक नभमध्य छटायी जेवा
आकषतो सुभग सायरवारि ऊंचे,
छीपो मही मवी जतो क्दी मोती शुभ्र,

चाहते अङ्गाङ्ग कुसुम-सुरभि के मधुर लचीले पुंज
और वाछा जगती
मुकुट-रूप में धारण करने को गिरि-शृंग,
ऊँचे उड़ कर उडुगण को मुट्ठी में भर कर माला रचने की;
लघु चित्त मे उमड़ती छलकती बड़ी-बड़ी कामनाएँ!

काल-स्थल के ये सौदर्य-मंडित महाविस्तार
विहरते है अमित,
पर मेरे बिना सब के सब शून्य से हैं ।
यहाँ खडे-खड़े ही की मैंने भावी-भूत की रचना,
और मेरे देखने पर हो उठे सकल स्थल जीवन्त,
सही है कि थे ये सब, किन्तु थी मेरी ही कमी;
बिना मेरे ब्रह्मांड मे करता कौन विश्व-रमण?

६-९-१९३५

३ सत्त्व-पुंज

गरज रहे सागर यहाँ आमने-सामने :
इनमें एक यह कुछ रहस्यमय ताल से नर्तन करता,
सँजोये रहा हृदय में अनमोल रत्न,
उल्लास-हास से भरा मेघपिता समुद्र ।
और दूसरा यह नित्य गरजता विराट मानव-सिन्धु,
ज्वार-भाटे मे मस्त लहराता,
संतत प्रवृत्तिगर्भ मे छिपे
कुछ हृदय-रत्नो को झुला रहा;
यंत्र दे रहा ताल ।

झुक कर छटा से नभमध्य शशांक
सुभग सागर-जल को आकर्षित करता ज्यों ही ऊँचे,
रख जाता कभी सीपियो में शुभ्र मोती;

एवो मह्ा विरल प्रेरक सत्त्वपुज
सक्षुब्ध आ तरल मानवराशि मागे,
के क कर्ये जीवन जागी चगे हुलासे
६-९-१९३५

४ अशक्याकाक्षा ?

महत्त्वाकाक्षाना विविधवरणा मेघधनुनो
छटा फेले चक्षु रीझवी, पजवी आत्मबळने
तरे द्रष्टि सामे कण थकी थया मेरु द्युतिना,
पूरे साक्षी कडी अफर इतिहासे स्मति भरी
विशाळे नाना शो जगफलक इस्कदर घूम्यो
अने वाळे वेशे तखततखते बाबर रम्यो,
खरी वेळानी गे फरज बजवी जोन कुमळी,
युवानीमा शाम्यु पण विघन ना कीट्स उरन
श्वसे मारे हैये पण तणख ते चेतन तणी,
सरी जे सृष्टिनी प्रथम पलके, जे जळचरो,
वनानी सृष्टि ने गिरिगिरि भमता पशुगणो
तणा प्राणे व्हेतो, युगयुग क्रमे वेगथी धपी,
प्रकाशी अते जे मनुज रूपमा उत्क्रमवती,
विकासीने आगे प्रगट बनु प्रज्ञापुरुप हु

५ दे पयघूट, मैया !

रातेदिने निशिदिवास्वपने लुभावी
देती चीजा विविध ने ललचावी भोळा,
राखे मने निजथी नित्य तु दूर बाळ

ऐसे ही माँगता है यह तरल मानव-सिन्धु
महाविरल प्रेरक सत्त्व-पुंज को
कि किसी तरह जीवन जग जाए,
उल्लासो मे मँडराए ।
६-९-१९३५

४ अशक्य-आकांक्षा ?

महत्त्वाकांक्षा के विविधरंगी मेघधनुओ की छटा
फैलती, प्रसन्न करती चक्षु को, सता कर आत्मबल को।
दृष्टि के सामने तैरते द्युति के कण बनते मेरु,
दे रहे कुटिल साक्षी, अचल इतिहास की स्मृति जगा कर।
विशाल जग-फलक पर छोटा-सा सिकंदर घूमा,
और बाल वेश में तख्त-तख्त पर बाबर खेला;
ऐन मौके पर सुकुमार जोन ने फर्ज अदा किया,
युवावस्था मे थम गया फिर भी विघ्न नही किट्स के हृदयको।
मेरे हृदय मे भी साँस ले रही है चेतन की वह चिनगारी,
जो सृष्टि की प्रथम पलक मे ही गति पाकर
जलचर, वन-सृष्टि और पहाड़ से पहाड़ तक घूमते
पशुगण के प्राणों मे वह रही,
युग-युग क्रम से वेग पाती बढ़ी,
उत्क्रमवती अंत मे जो मनुज-रूप में प्रकाशमान हुई;
उसे विकसित कर, आगे बनूँगा मै प्रज्ञापुरुष ।
२-९-१९३५

५ दे पयघूँट, मैया !

रात दिन स्वप्न मे—दिवास्वप्न मे लुभा कर
तू देती है विविध चीजे, और रखती है
इस अबोध बाल को अपने से नित्य दूर ।

[illegible] उठेगा?
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

११-८ १९१८

१ [illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

तुझ-सी जननी भी करेगी उपेक्षा ?
क्यो विछुड़ती, अरे, नही होना मुझे वड़ा ।
रहूँगा मै तो शिशु नित्य-सा नन्हा ।
नन्हा मै वालहक से दूधमुँहा वना रहूँगा,
इस दूध से छुट कर
भ्रम मे ही वड़ा होना है ।

श्वसित होती है धडकन स्तन की
रात मे तेज-गुम्फित चोली के पीछे,
और दिन मे सूर्य का हीरा
तेज के अंवार मे छिपाता रहे छाती को ।
री खोल, खोल शीघ्र छोड़ विकासधारा,
मत वहला शिशु को, और कुछ नही चाहिए,
वस छाती से लगा कर दे पयघूँट, मैया !

२६–८–१९३४

६ कुंज उरका

शृंग–शृंग पर श्वसित होते युगो के श्रान्त प्रतिघोप,
और निर्झरजल मे बहती अनछुई आदि कविता,
तालाबो के गहरे नयन भर देती है काल की द्युति,
रच रहा पवन घास के मैदानो मे स्मिति की घुमरियाँ :
पेडो की डाल-डाल पर नीड़ मे
किलक उठते है गीतो के झूले,
लताओ के पुष्पो पर, पत्रो पर है
चैतन्य की मीठी मुखचमक ।
प्रत्यूष मे, संध्या समय, क्षितिज के अधर पर
होती रंगरमणा,

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

—आमंत्रण देते सब मुझे
ग्रहण करने को विश्व-कुल का प्रणय ।
नही उलझना है इस प्रकृति-रमणी के नए-नए रूपो में,
अर्पित किया प्रणय जग को ।
मनुष्य चाहे या करे कभी उपेक्षा, चिता नही,
सब मनुज के भावों को हृदय से लगाए रहूँगा ।
वहुत प्रिय है प्रकृति मुझे, किन्तु प्रियतर है हृदय-कुंज ।
छाया है मानवने जिसे अमृत से ।

२-९-१९३५

७ अकिंचन

वैठा जाकर बाजार खोकर निज समृद्धि
होने को अकिंचन।
यहाँ भावना के
सच्चे-कच्चे धवल मोतियो की रम्य लड़ियाँ।
और ये परागभरे पुष्प, चुने गए है जो
इस लोक की अनुभव-कंटकस्थली से ।
क्षमा कीजिए, मै नही गूँथ सका माला ।
सोचा · हो जाएँगे मेरी टपकती अँगुलि से
ये पुष्प सब सुरभिहीन विवर्ण म्लान ।
‘ रे वाह, तू अजीब दंभी रहा लुटानेवाला ।’
टोली मे से बोला एक मुँह करके नीचा ।
‘ कह दे, वह क्या छिपा रखा द्वार के भीतर ? ’
हाँ, वह भी अर्पित करना ही होगा—अनछुआ हृदय । ’
सब विखर गए, आखिर खोल कर बोला ·
पीना भले जन, पर चंचुप्रहार न करना ।

२-९-१९३५

८ सतोर

टूको नजर ना'पणो, फक्त दृष्टिनो ना टूका,
भले क्षितिजगाळ सकुचित लागता पृथ्वीनो
घर दृग समक्ष फक्त भर डुगरायी वीटी
जमीन अतिथोडी गाउ दसबारना पथमा,
जमीन पण एटली धरी रहत निजचायमा
नगोळ अरधा, छुपावती निजाग जोके घणु,
जन मनुजदष्टि मामी भ्रमणे न ऊभता स्वय
वतावती नभ अनत रमणे चडया तारला

टूकु जगत ना, रचाई पयराय चामेर जे
[illegible]ले नर न एकीसाथ नवलड गेडो हवे,
जहो स्थिर उभा तहो जनस्वभावना कीमती
प्रकार बहुये कदाच महूय वस्या आग जा
अने हृदय देगाल विविधवस्ना भाइवो
तजी नजीर जे गद्दु नीरखी एर लेवु घटे
ऑगस्ट १९३२

१०. अनंत [illegible]

गई प्रथम [illegible] हाथ? [illegible], [illegible], [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] अ [illegible]? [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नवा
[illegible] [illegible] [illegible] अनुभवा [illegible] पूर्वना
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

८ संतोष

निगाह नही है छोटी हमारी,
छोटा नही, दृष्टि का फलक भी;
भले ही पृथ्वी का क्षितिजगोला लगता हो संकुचित।
भले ग्रहण करते दृग सामने पहाड़ियो से लिपटी हुई
थोडी-सी जमीन दस-बारह कोस के पंथ मे;
इतनी-सी जमीन भी ग्रहण करती शिशु-भुजाओ मे
आधा खगोल,
निज अंग को यद्यपि वहुत-सा छिपाए रहती,
और मनुज-दृष्टि को न दिखा कर निज भ्रमण
दिखाती वह अनंत नभ मे रमणशील सितारे।
छोटा नही जग, रचित हो जो फैला चारो ओर।
चाहे मनुष्य एक साथ खे न सके नवखंड,
जहाँ खडा वह स्थिर, जन-स्वभाव के मूल्यवान
वहुत से प्रकार—शायद सभी बसे, यदि हो दृष्टि।
और हृदय! देशकाल विधि-वक्रता को कोसना छोड़ कर
निरख लेना उचित होगा उसे, जो खडा है निकट।

अगस्त १९३२

९. अनंत क्षण

कैसे मानूँ कि क्षण रहे नही?
दिन, मास, वर्ष बह गए – कैसे मान लूँ? –
जीना पड़ता है उन्ही सब को पुनः पुनः।
नये नयन को पुरातन से भी प्राप्त होते है मूल्य नये।
अनेकविध हो चुके पहले के जो अनुभव,
पाया उन्हे नये दर्शन मे नये रूप मे तथा

हजीय नवतत्त्व थाई मळता नवे रूप सौ
फरी अनुभवा उर ऊतरशे, न आरो क्ही
अने फरीफरी रही जीववो ए पळो एम सौ
पळो सकल आजनी गत पळोयी पाथाय, ने
जिवाय गत ए पळो सकळ आजनीमा, अने
भविष्य तणो सौ क्षणो ऊतरी आज आशारूपे
समद्ध क्षण वतमान करती, थतो ने स्वय
क्षणे क्षण अनत छे नवनवे रूप विस्तरी
प्रतिक्षण विशे स्फुरे अनुभवो निकाले भर्या
नवम्बर १९३३

१० समय तृषा

वरसभरमा वीत्या व्हाणा, शम्या पल्कारमा,
नथी खबर के जाण्या माण्या पूरा उरव्हारमा
वरसभरना मध्याह्नो ने मीठी मधरात्रिओ,—
शु कहु ? सहुये आ हैये तो अजाण ज यातीओ
अधीरपभर्या भावे वेणु सुणी'ती वसतनी
नीरखी'ती नभे वर्षानीये मदे पदपक्तिओ
शरदसरमा दीठी होडी सरत भयक्नी
पण क्हीय ते आ हैयाने थयो नव स्पश को
दिशदिश तणा आदर्शो, —त्या स्वमूर्ति तपासु हु,
जगमगजना झझावातो,—वीझाउ अशात त्या,
दलित उरना लावा, —न्हावा तही उर दोडियु,
समयनी सुरा, ढोच्ये राखी अहर्निश प्यालीमा
फरी क्हीयथी ऊगी जो ता नवी नभ को उपा,
फरी समयनी हैये जागे अदम्य चिरतृषा
१९३६

मिलने पर अभी कुछ नये तत्त्व नये रूप मे
सब वे अनुभव उतरेगे हृदय मे पुनः, कोई चारा नही।
जीना ही होगा पुन· पुन· उन सब पलों को ऐसे ही ।
आज के पल सकल पोसे जाते गत पलो से
और जिये जाते विगत के सकल पल आज के पल मे ।
उतर आते सब भावी क्षण आज आशा का रूप लिए
क्षण वर्तमान को करते समृद्ध, होते स्वयं भी ।
अनंत है प्रत्येक क्षण।
नए-नए रूप मे फैल कर
प्रतिक्षण मे स्फुरित होते है त्रिकालभरे अनुभव ।

नवम्बर १९३३

१० समय-तृषा

बीत गये सारे बरस के प्रभात, पलक मे गमित हुए,
पता नही हृदय की बहार मे जिन्हे पूरा जाना या भोगा।
सारे बरस के मध्याह्न, मधुर मध्यरात्रियाँ—
क्या कहूँ—सभी इस हृदय में तो अनजान यात्री-से ।
अधीरताभरे भाव से वसन्त की सुनी थी वंशी,
वर्षा की पदपंक्तियो को देखा था नभ में मद से ।
देखा था मयंक की नौका को सरकते शरद-सर मे ।
किन्तु न हो पाया इस हृदय को कही भी स्पर्श ।
दिश-दिश के आदर्शो मे स्वमूर्ति को खोजता हूँ,
विश्वचित्त के झंझावातो मे घूमता अशात उड़ता हूँ,
दलित हृदय के लावा मे भीगने को दौडा है हृदय,
समय की सुरा पीता रहा बेहद, अहर्निश की प्याली में ।
देख तो, कहाँ से उग आई नभ मे पुनः कोई नई ऊषा ।
जगती है हृदय मे पुनः समय की अदम्य चिर-तृषा ।

१९३६

११ आशा त्णी

निराशाना क्षेत्रे करवी ल्णणी जाशाकणनी,
अन गोती रहेवी जड ढग मही चेतनकणी,
छटा माया केरी महीथी सतनी झाखी चहवी,
जनो वाछे घेला, जीवनतणी आ ते शी मदिरा!
क्यु अर्ये ते का नव करी अरे हु पण शकु?
पताका कीर्तिनी क्यम न फरकावी हुय शकु?
पत्तु घेराया समय तणी एवी भीस मही
अनिच्छाए जागे रुदन, मुख ज्या जाय हसवा
प्रवाता वैरोना रुधिर उरनु झेर करता,
प्रपाता दोपोना जीवतर भरी घोर दवता
असिद्धिना डखो, प्रणय अणमाण्या, दमी रह
मनुष्यो तोये रे शत वरस शे जीववु चहे?
अगवित आत्महत्यानी एने आशा कह जनो,
मत्युथी नासता तोये जिदगी अक मत्युनो

२-९-१९३५

१२ मृत्यु माडे मीट

मत्यु माडे मीट सुखद लेवा सकेली
विश्वकुज जगडाळ मचेली जीवनकेली
पुनजन्मनु पुण्य प्हरोड हवे ता फूटशे,
दिव्य उपानी पुनित पीराजी पास पसरशे
रचनु एवा तन कक हैयु उल्लास
हसे जवानु अय पथ का नवा प्रवासे
फरी सफरआनद तणो ऊडशे वळी छोळा
विचारी एवु मृत्युदश कर शे माळा?

११ आशा-कणी

निराशा के खेतो मे करनी है लुनाई आसकण की,
जड ढेर मे खोजते रहना है चैतन्य-कणिका,
माया की छटाओ से चाहना सत्य की झाँकी को,
कामना करते अबूझ लोग, — जीवन की यह कैसी मदिरा !
अन्य ने जो किया, मै भी क्यो न कर सकूँ ?
कीर्ति की पताका मै भी क्या न फहरा सकूँ ?
किन्तु घिरे हुए है समय के ऐसे कुटिल चाप मे
कि मुख हँसना चाहे, और जग जाए अनिच्छा से रुदन !

वैर के प्रवात हृदय के रुधिर को कर देते जहरीला,
दोषो के प्रपात जिन्दगी को भर देते,
सताते घोर असिद्धि के डंक,
अनभोगे प्रणय कर रहे दमन।
फिर भी क्यों चाहते मनुष्य शत वर्ष जीना ?
अशक्ति आत्महत्या की—कहते है लोग उसे आशा,
त्रास पाते मृत्यु से, जिन्दगी है मृत्यु के अर्क से भरी ।
२-९-१९३५

१२ ताक रही मृत्यु

ताक रही मृत्यु समेट लेने को
विश्व-कुंज की जग-डाली पर प्रफुल्ल सुखद जीवनकेली को।
पुनर्जन्म का पुण्य प्रभात अब तो फूटेगा,
दिव्य ऊषा के पुनीत फिरोजी पंख फैलेंगे ।
हृदय कर रहा ऐसे तर्क उल्लास से ।
जाना होगा अन्य पंथ किसी नये प्रवास को ।
फिर से उठेगी लहरे यात्रा के आनंद की ।
सोच कर ऐसा, करना चाहता क्या मै मृत्युदंश को मंद ?

गान भीषण मत्युमुगे अर्पवी शामलता ?
विद्युद्वल्ली होय फयवी शात पुष्पलता ?
आय, मात, गदेग वात तव घर्घरनाद,
नही चून, वधु नले, रुद्र तव रुप धरीन तुं
यस्दत अभिाड घमंडभरेल विषादे
मुग टयाड तुज, गातचित्त तव दत गणीश हु
मौनाद १९३०

१३ निशापथ

धाकया गाने स्वर मदु पडघा आव रे जाव चाल्यो
थाकया देहे फरी गरू वरी आसरी एन यात्रा
तारातेजे चमकी ल्ल्चावी स्फुरे वीचिमाला,
तेडा मीठा गणी जलनिधिनो निशापथ चाल्या
अश्रु सारा जीरवी जगने पाठवे वारि मीठा,
सिधु, तारा जीवनव्रत म अन्य क्याये न दीठा
आहो लोके लपलक्ष जनोमाथ एकाकी रहेवु,
मूगामूगा सहन करवु, ना हयानेय कहेवु

मारे माटे अणखूट पडघा वारिमेदान माटा,
सिन्धु तारे जलतल मूकु कायनी नावडी आ
तारे ऊडे जलतल पूरु छु सही रे तु लेजे,
गाथा कूडी जगनी, अमृतावी फरी पाछी देजे
त्या ता काया फगवी हडसेली तरगो पुकारे
जा रे तारे जग, उभयथी क न सबध मारे
९-९-१९३५

भीषण मृत्यु-मुख को क्यों अर्पित की जाए कोमलता?
विद्युद्वल्ली को क्यो पुष्पलता कहके पहचानूं?
आ, मृत्यु, तू आ, कह दे अपना संदेश घर्घर घोष से,
नहीं न्यून, भले ही अधिक, धारण करे तू अपना रुद्र रूप,
वक्रदंत अतिचंड घमंडभरे विषाद से,
खोल तू अपना मुँह, शान्तचित्त गिनूँगा मै तेरे दन्त ।

अगस्त १९३०

१३ निशापंथ

थके कानो पर आ पडा एक मृदु स्वर—आरे, चला आ।
थकी देह ने पुन: शुरू की एक आखिरी यात्रा ।
तारकतेज से चमकती वीचिमाला
स्फुरित होती लुभा कर,
मधुर निमत्रण जलनिधि का मान कर ग्रहण किया निशापंथ।
खारे आँसू सह कर जग को भेजता मधुर जल,
सिन्धु, तेरे जीवनव्रत-सा मैने नही देखा अन्यत्र ।
यहाँ लोक मे लक्षाधिक के बीच भी एकाकी रहना,
चुपचाप सहन करना, हवा से भी न कहना ।
मेरे लिए, अखूट पड़े वडे वारि मैदान,
सिन्धु, तेरे जल की सतह पर रखता हूँ
काया की यह नौका ।
तेरे गहरे जलतल मे भर रहा हूँ जग की कुटिल गाथा,
सह लेना उसे तू, पलट कर अमृत मे देना पुन.
उसी समय काया को झिडकती धकेल देती पुकारती तरंगे:
जा रे अपने जग,
मुझे नही कोई वास्ता तुझ से, तेरे जग से ।

९-९-१९३५

१४ बिचारो मनुज

करी यत्नो कोटि गगन चूमता म्हेल रचिया,
पछी छो ए काजे जीवतर बधु रोळयु धूळमा
नवा म्हेले ज्यारे अवसर मळ्यो वास वसवा,
तही ता प्राणोना जीरण ज हता म्हेल तूटला
रगो खची खेंची नवल कई सूरो जगववा,
महा आयासोथी अजब सज्यु वाजित्र उरनु,
सुण्यानो वेळाए बधिर बनीने मूर्छित समा,
सदाना आत्मा तो शतशत हता जोजन पळ्या

महावज्राघाते हृदयजडिमा तोडी, चरणु
वहाव्यु तो होसे, प्रबळ पुरुषार्थे, पण बधु
सुकाई एवु तो रण सम थयु जीवन हतु
फूटयु एवु क्याये झरण कुमळु लुप्त बनियु
बिचारा निचोवे मनुज विधिनी रेत अमथो,
वृथा यत्ने खुए मृगजळनीये रम्य भ्रमणा
६-९-१९२५

१५ हगनल भला

तमे उल्लासोनी मीठीमीठी करा प्रेरक कथा,
युवानीलीलाना सतत वजवो शौयवणगा,
बुढापा पच्चीसे जगहृदयना, ते न नीरखो,
अने सद्भागीना शिशु रमकडे राची ज रहो
प्रतापोनी गाथा स्थिरधवके पूरी, उरने
तमे आमन्त्रो छो रजनिदिन आनन्द घूमवा,
सुखे भ्ला भाळा रगरग भरीने घगी रह्या
महाग्नि मत्युनो, जग सकल ज्ये थवल-तु

१४ बेचारा मनुज

कोटि यत्न करके रचे गगनचुंबी महल,
भले धूल मे मिलाया उसके पीछे सारा जीवन ।
जब मौका मिला नए महल मे बसने का
तब तक तो प्राणो के जीर्ण महल थे टूटने को ।
रगे खीच खीच कर, कुछ नए सुर जगाने को
बडे आयासों से उर का अजब बाजा सजाया,
सुनने के क्षण बधिर बन कर मूर्च्छित-सी सदा की आत्मा
जा चुकी थी शत-शत योजन दूर ।
वज्राघातो से हृदय की जड़ता को तोड़ कर
हौस से बहाया झरना, प्रबल पुरुषार्थ से, पर
सूख कर होगया रेगिस्तान-सा सारा जीवन कि
फूटते ही लुप्त हो गया कोमल झरना कही ।
बेचारा मनुज पेर रहा विधि की रेत को यो ही,
वृथा यत्न मे खो रहा मृगजल की रम्य भ्रान्ति भी।

६-९-१९३५

१५ दृगजल

कह रहे आप उल्लासो की मीठी-मीठी प्रेरक कथाएँ,
यौवन-लीला के नाम सतत बजाते रहे शौर्य के नरसिघे,
पच्चीस पर ही बुढापा जग-हृदय का—देखते नही,
और किसी सद्भागी के शिशु खिलौने मे मगन रहते।
प्रतापो की गाथा रुधिरस्पंद मे भर कर,
हृदय को न्योता देते आप निश-दिन घूमने को अनंत में,
चैन से भूल जाते भोले लोग कि रग-रग को भर कर
धधक रही मृत्यु की महाग्नि, जिसके लिए
है सारा जग कौर-सा ।

माँग रहे जड़ से ही आप अहं का निर्लोपन,
सिखा रहे फलसफ़ा खुद न सह कर,
डाल देते अन्य उदर मे तेजाब की दवा,
बिना देखे ही दर्द ।
अहं कहाँ का ? क्यो ?—कहिएगा पहले,
लोप उसका बाद मे ।
असत् आनन्दों के प्याऊ बना कर मत बाँटिए मदिरा,
इससे कहो अच्छे है शोक-प्रेरित दृग-जल
विहरते रहने पर यथार्थ मे ।

६-९-१९३५

१६ अटल एक ऊषा

उग आई अटल एक निर्दय ऊषा ।
टपक रही थी रात की छाती रुधिर से
और बिछाए गए हो ज्यों कब्र पर
फीके थे मृत्युम्लान सब उडुगण ।
कट गया कोहरा सारा चित्त के क्षितिज पर से.
और रंग-भरी जवनिका खिसक गई बरौनी से ।
वहाँ क्या है सर्वत्र
टीले के आसपास का दृश्य ?.
अरे, कहाँ गायब हो गई पहले की विराट जनता ?
आत्मा के अर्धभग्न खड़े आधे खण्डहरो की
जगपट पर छाई है लीला ।
छोड़ कर विजय के मनोरथ,
किसी आहत पंछी-सा हृदय बैठ गया कही दुबक कर,
गाता हुआ खण्डहरो की करुण भीषण गाथा,
और खोज रहा इस अफल गान मे सात्वना ।

९-९-१९३५

१७ यथार्थ ही सुपथ्य एक

नही बिनती, न फ़रियाद, न फिक्र, नहीं बेक़रारी,
या नहीं किसी प्रबल सत्त्व से शक्ति की याचना ।
रम्य भ्रान्ति के असत्यचक्र जगा कर भटकानेवाली
गगनचुम्बी आदर्श की पागल लगन भी नहीं ।
जग से दुरित-लोप की अशक्य अभीप्सा भी नही,
सृष्टि के सकल तत्त्वविमर्श की उत्सुकता भी नही ।
पग-पग बढाती वजन काल की शृंखला,
साँस-साँस निकट आती यामिनी शाश्वती ।

शांति के लिए, चित-सौख्य के लिए
मंथन मे नही ढँढोलना जग को,
यदि उमडती हो चारो ओर उल्लास से अशान्ति।
असुख नही दमते मुझे जितने कि वितथ सौख्य चुभते,
नही रुचते सुख, जैसे रुचते है समझ में उतरे दुःख।
यथार्थ ही सुपथ्य एक, समझते रहना यथाशक्य ।
अनजान रमना क्या ! यातना के मोल भी समझना ही इष्ट।

९-९-१९३५



देश-निर्वासित-सा

अचरज मुझे बड़ा
कि ठगा जाकर यह हंस
घट में झट कैसे आ बँधा ।
न मानो कि डरता हूँ जिन्दगी से
जिसकी नवाजिश करते लोग
देकर उसे 'कलह' नाम ।

भटकना हरएक मर्त्य को जन्म से मृत्यु तक ।
मैं खोजूं मृत्यु से जन्म तक का नवपंथ ।
भटका किया हूँ, अभी भटकूँगा और
पृथ्वी पर, जैसे देश-निर्वासित हुआ स्वयं ।

जनवरी, १९३५

मनुष्य-हृदय

मनुष्य के हृदय को तोड़ने में देर क्या?
अधबोले बोल से
थोड़े अनबोले से
कोमल हृदय को पोजने में देर क्या?
स्मित की बिजली
जरा सी कौंध जाने पर
उसके उसी हृदय को रंजने मे देर क्या?
ऐसे हृदय को तोड़ देने मे देर क्या?
मनुष्य के हृदय को रंजने मे देर क्या?
उसके उसी हृदय को तोड़ देने में देर क्या?

२८-१०-१९३७

मनुष्य-हृदय

मनुष्य के हृदय को तोड़ने में देर क्या?
अधबोले बोल से
थोडे अनबोले से
कोमल हृदय को पोंजने में देर क्या?
स्मित की बिजली
जरा सी कौध जाने पर
उसके उसी हृदय को रंजने में देर क्या?
ऐसे हृदय को तोड़ देने मे देर क्या?
मनुष्य के हृदय को रंजने मे देर क्या?
उसके उसी हृदय को तोड़ देने में देर क्या?

२८-१०-१९३७

गाणु अधूर

गाणु अधूर मेल्य मा,
'ल्या वालमा,
गाणु अधूरु मेल्य मा
ह्ये आयेलु पाछु ठेल मा,
'ल्या वालमा,
होठे आयेलु पाछु ठेल मा गाणु अधूरु
ह्या सगाये भूंडा मेल मा,
'ल्या वालमा,
मोळा सगाये भूंडु खेल मा गाणु अधरुं
आरा वालावी धकेल मा,
'ल्या वालमा,
छातीथी छेटा धकेल मा गाणु अधूरु
छातीथी छेटा मेल मा,
'ल्या वालमा,
हैया सगाये भूंडा खेल मा
गाणु अधूरु मेल मा
'ल्या वालमा,
होठे आयेलु पाछु ठेल मा

सप्टेम्बर १९३९

गीत अधूरा

हे प्रिय,
मत छोड़ गीत अधूरा ।
हृदय तक जो आ पहुँचा
उसे पीछे मत ठेल,
हे प्रिय,
होंठ तक जो आ पहुँचा
उसे पीछे मत ठेल ।

मत खेल हे ढीठ हृदय के साथ,
भोलों के साथ बुरा खेल मत,
बुला कर निकट मत धकेल दूर ।
मत धकेल छाती से दूर ।

हे प्रिय,
छाती से दूर रख छोड़ मत,
हृदय के साथ हे ढीठ मत खेल ।

हे प्रिय,
मत छोड़ गीत अधूरा ।
होंठ तक जो आ पहुँचा
उसे पीछे मत ठेल ।

सितम्बर १९३६

‘ विश्वशान्ति ’ से

'विश्वशांति' मांथी

१ मंगल शब्द

त्यां दूरथी मंगल शब्द आवतो!
शताब्दीओना चिरशांत घुम्मटो
गजावतो चेतनमंत्र आवतो!

प्रकाशना घोघ अमोघ झीलती
धपे धरा नित्यप्रवासपथे,
हसी रही पाछळ अंधकारनी
तूटी पडे भेखड अंध अंगे
विराट खोली निज तेजआंख
कल्याणनां मंगलपंथ दाखवे,
ए तेज पीने निज सृष्टि खीलती
जोती घडी, ए वधती उमंगे
अंगे लगाव्या हिमलेप शीळा,
ज्वालामुखी किंतु उरे ज्वलंत!
मैया तणे अंतर शुं हशे पीडा?
के सृष्टिचिंता उरमां अनंत?
विश्राम काजे विरमे नहीं जरा,
अकथ्य दुःखे अकळाय हैडे!
उच्छ्‌वासथी वादळगोट ऊडे,
ने दूर फेंके जलनील अंचळा!
भमे भमे दुःखतपी वसुंधरा!
डगो भरे तेजपथे अधीरा!
ए तोय पूरा न थया प्रकाश!

'विश्वशांति' से

१ मंगल शब्द

आ रहा दूर से मंगल शब्द इतनेमे ।
शताब्दियो के चिरशात गुबदो को
गूँजाता हुआ आ रहा चेतन-मत्र !

ग्रहण करती हुई प्रकाश के अमोघ प्रपात
बढती आगे धरा नित्य प्रवास-पंथ मे;
पीछे झूमती हुई अंधकारकी कगार
टूट पड़ती है आधे अंग पर ।
खोल कर अपनी तेज आँख
विराट दिखा रहा कल्याणका मंगल पथ;
पीकर उस तेज को खिलती हुई
निज सृष्टि को देख लेती घडीभर
और आगे बढती वह उमंग से ।
लगा लिए है देह पर शीतल हिम-लेप
किन्तु हृदय मे दहक रहे है ज्वालामुखी !
 मैया के भीतर क्या पीडा होगी ?
 या उसके हृदय मे होगी अनंत सृष्टि-चिता ?
रुकती नहीं विश्राम के लिए जरा भी,
अकुलाती हृदय मे अकथ्य दुःखो से !
उच्छ्वास से उड़ती बादल-घटाएँ
और दूर फैलते जलनील ओढने ।
भटकती है दुःख से तप्त वसुंधरा ।
उठाती है तेजपथ पर अधीर कदम !
फिर भी पर्याप्त न हो पाए प्रकाश ।

अधारमा आथडो भूतसृष्टि!
आ रवतरगा पशुपक्षी प्राणी
पुकारता सौ नखदतनाश
ने लोही पीने ऊछरेल घेली
आ लाडीली मानवता धरानी
इतिहासनी भूलभुलामणीओ
रचे, अने व' जगवे लडाईओ
भोळी स्वहस्ते निज अग चीरे
ने भीजती आत्म तणा रुधिरे
जळ्या करे चोदिश क्लेश!
शमे न ए आग अबूझ लेश!
को सिचता जीवनवारि सत
तोये रहे पावक ए धगत!
पेगाम दैवी पयगबरो वद्या,
शमो न ए भीषण विश्ववेदना!

त्या दूरथी मगल शब्द आवतो!
युगो तणी व क पडी कतार
आवे ध्वनि एहनी आरपार
'तु पाप साथे नव पापी मारतो!'

ए मत्र झील्यो जगने किनारे
ऊभेल योगीपुरुषे अनेके,
आरण्यकोए, ऋषिमडलोए,
सुणेल बुद्धे, ईशुए, महावीरे.
न तोय निद्राजड लोक जाग्या
डबी गयो मत्र अनततामा!

ए आज पाछो ध्वनि स्पष्ट गाजता

अंधकार मे भटक पडी भूतसृष्टि ।
ये रक्तरंगी पशु-पंखी प्राणी –
पुकारते सभी नखदंतनाश ।
और लहू पीकर बड़ी हुई जो पागल,
धराकी लाडली यह मानवता
रचती है इतिहासकी भूल-भुलैयाएँ,
और जगाती है कितनी ही लडाइयाँ ।
भोली यह, चीरती है अपने ही हाथो निज अंग
और भीगती है अपने ही रुधिर से ।

लहकते रहते चहुँदिशि कोटि क्लेश ।
नही होती शान्त यह अबूझ आग लेश भी ।
सीचता है कोई संत जीवनवारि
फिर भी दहकता रहता वह पावक ।
कहे पैगाम देवी पैगंबरों ने,
न हुई शान्त यह भीषण विश्ववेदना ।

आ रहा दूर से मंगल शब्द इतने मे,
युगो की पड़ी कई कतारो के आरपार होती
आ रही है आवाज :
'पाप के साथ न मारना तू पापी को ।'

ग्रहण किया यह मंत्र
जग के किनारे खड़े अनेक योगीपुरुषों ने,
आरण्यको ने, ऋषिमंडलों ने;
सुना उसे बुद्ध ने, महावीर ने, ईसा ने,
न जागे फिर भी निद्राजड़ लोग,
डूब गया मंत्र अनततामे ।
वही ध्वनि स्पष्ट गूंज रही पुनः आज,

योगी तमे भारतवासीहैये
जन्मो चूक्या छो ज करोडरूपे
जगज्जनोना उरमा तमारु
शोभे सदा आसन दिव्य न्यारु।

'सर्वमेधमहायज्ञे होम्या'ता भूतमात्रने
विश्वरूप महादेवे,' कह्यु एवु कविजने
सर्वमेधमहायज्ञे होमी सर्वस्वमात्रने
तमेये आज शोभो छो विश्वरूप जगद्गुरो।

विराटनी व्योम विषे प्रशस्ति
जे आलखी अंगुलि तारकाक्षरे
लखे, लखे न वळी रोज भूसती,
गीता गुणोनी न लखाय पूरी
गाथा एवी संतनीये अधूरी
वीली जता मानवबोलमा लखी

५ विश्वशांति

विशाळे जगविस्तारे नथी एक ज मानवी
पशु छे, पक्षी छे, पुष्पो, वनोनी छे वनस्पति।

पोषाय छे पुष्प अनंत वासना।
पोषाय छे प्राण सुरम्य पक्षीनो।
जीवो तणो प्राण भूमी रखाय छे,
वन्यवृक्ष काननना फलाय छे।

भारतवासियों के हृदय मे
योगी तुम जन्म ले चुके हो कोटि रूपों मे ।
शोभित है तुम्हारा आसन दिव्य अनूठा
जगत्‌जनो के उर मे ।
'सर्वमेध-महायज्ञ मे होमित किया था भूतमात्र को
विश्वरूप महादेव ने'—कहा ऐसा कविजन ने ।
सर्वमेध-महायज्ञ मे होमित कर सर्वस्व मात्र को
तुम भी सोहते हो आज, विश्वरूप जगद्‌गुरो ।
अंकित कर रही है तारकाक्षरों से कोई अँगुलि
व्योम मे विराट की प्रशस्ति ।
लिखती है, लिख कर फिर रोज पोछ देती है,
नही लिखी जा सकती गुणोकी गीता पूरी ।
संत की भी ऐसी अधूरी लिखी है गाथा यह
मुरझा जाते मानव-बोल मे ।

५ विश्वशांति

विशाल जगविस्तार मे नही है केवल मनुष्य हो;
पशु है, पंखी है, है पुष्प और वनो की वनस्पति !
बेधे जाते है पुष्प अनेक बाग के ।
नोचे जाते है पंख सुरम्य पंखी के ।
काटी जाती है मूक जीवो की काया ।
आहत होते कानन के कलेवर ।

रडे छे प्रकृतिमाता दूझ छे दिलदु सडा,
अमी पी न धराना, ने वपूता रक्त रेलता !

छे पद्म न पुष्पनी पासडीए
प्रभु तणा प्रेमपरागपाढणा
कल्लोलता पंखीनी आसडीए
गीतो अमरा चमके प्रभु तणा !

प्रकृतिमा रमता ए दुभाशो लेश जो दिले,
शातिनी स्वप्नछायाये वदो मानवन मळे ?
सौ जीव आजे उरथी वहावीए
कारुण्यनी मगल प्रेमधारा.
वसुधराना सहु बाळको मळी
वजावीए अतरएकतारा
हैयेहैया प्रेमगान जगावी,
प्रजाप्रजा हाथमा हाथ गूथी
ने स्वधे स्वध सपे मिलावी,
गजावीए सौ जग उबरे ऊभी
'मानवो प्रकृति, सौने वसुधव कुटुम्वकम् !'
ने ए जशो शब्द अनत वोधी,
ज्या घूमती कोटिक सूयमाला,
ज्या शातिना रास चगे रसाळा,
यत्रैव विश्व भवत्येकनीडम् ।

१९३१

रोती है प्रकृति माता, टपकते है दिल के दुःख;
अमृत पीकर जो नही अघाते, कपूत वहाते रहते रक्त !
पत्र और पुष्प की पंखुड़ियाँ तो है
प्रभु की प्रेमपराग-सेज ।
कल्लोल करते पंछी की आँखो मे
चमकते है प्रभु के अनूठे गीत !
प्रकृति मे खेलते रहते प्रभु के हृदय को
पहुँचेगी यदि तनिक भी चोट,
मिलेगी क्या मनुष्य को कभी
शांति की स्वप्नछाया भी ?
चलिए, वहाएँ आज सव जीव उर से
कारुण्य की मंगल प्रेमधारा ।
वसुंधरा के सव वाल मिल कर
वजाएँ हृदय का एकतारा ।
प्रेमगान से हृदय-हृदय को जगा कर
गूँथ कर हाथ मे हाथ सभी प्रजाएँ,
भिडा कर कंधे से कंधा ऐक्य से,
जग की देहरी पर खड़े खडे
पुकारे हम वुलंदी से :
"मनुष्य, प्रकृति, सभी के लिए 'वसुधैव कुटुम्वकम्'।"
अनंत को वेध कर पहुँच जाएगा यह शव्द
जहाँ घूम रही है कोटि कोटि सूर्यमालाएँ,
जहाँ शांति के रास जमे है रसभरे,
'यत्रैव विश्वं भवत्येकनीडम् ।'
१९३१

'गंगोत्री' से

पीछु

जेवो को नभतारलो गरो जतो अधारमा पायरी
झीणी पातळी तेजपिच्छ-कलगी, दृष्टि पडे ना पडे,
ओचितो तही जाय डूबी तिमिरे, जेवु लीला विस्तरी
सोणु नीदरमा ठरी क्षण, सरे, जोवा पछी ना जडे,
ने जेवी कविता अखड उरनी आराधना तपवा
एकाएक छती थई हृदयमा को कल्पना खेरवी
ऊडी जाय, न दे समो गबदनी श्रद्धाजलि अपवा—
क्याथी क्या गई ना लहे नजर ए रहे मात्र हैये छवी

एवु एक मीठा प्रभात समये को पखी आव्यु ऊडी,
जोयु ने अणदीठ एक पळमा तो क्याक चाल्यु उडी,
एने तारकतेजरेख सरखु, के स्वप्नलोला समु,
के मेघी कविताकुमाश झरतु ना गीत गावु गम्यु!
क अस्पश्य न एवी पाछळ स्मृति राखी जवान रूडी
पीछु खेरवीने गयु, ऊडी गयु

ना! गीत मूकी गयु
पोते ना कई गायु, किंतु मुजने गातो करीने गयु

४-१-१९३३

पिच्छ

खींचकर अंधकार में प्रकाश की बारीक पिच्छ-कलगी
ज्यों ही नभ से टूट पड़ता कोई सितारा,
दीखे न दीखे और यकायक डूब जाए तिमिर में;
ज्यो निज-लीला में फैल कर सपना
ठहर कर नींद मे क्षणार्ध, सरक जाए,
न हो प्राप्त पुनः देखने को;
और ज्यों उर की अखंड आराधना के तर्पण-हेतु
यकायक प्रकट होकर कविता
हृदय मे कोई कल्पना छोड़ कर उड़ जाए,
न दे समय शब्द की श्रद्धाजलि अर्पित करने के लिए—
कहाँ से कहाँ गई इसका न चले पता नजर को,
रह जाए हृदय मे केवल उसकी छवि ।

यो ही
एक मधुर प्रभात मे उड़ आया
कोई पंछी,
देखा, और अनदीखे एक पल मे तो
वह कहीं डूब चला;
तारक-तेज की रेखा-सा, या स्वप्नलीला-सा
या दुर्लभ कविता-नाजुकी झरता गीत गाना
उसे पसंद आया नही ।
रख छोड़ने को पीछे कोई स्पर्शगम्य स्मृति,
उड़ गया वह छोड़ कर एक पिच्छ ।
नही ।
छोड गया गीत :
न गाया स्वयं, किन्तु मुझे गाता हुआ कर गया ।
४-१-१९३३

जठराग्नि

रचा, रचा, अंबरचुंबी मंदिरा,
ऊंचा गणा म्हूल, घणा मिनारा!
मढ़ा स्फटिक, लटकाओ झुम्मरा,
रंगे उडावो जळना फुवारा!

रचा, रचा चंदनवाटिकाओ,
ऊंचा तणावो नवरंग घुम्मटा
ने पंथ क्रीडागण, चंद्रशाळा
रचा भले!

अंतर स्पर्शे शिला
ए प्रेम भावि बहु काळ साचवशे?
दरिद्रनी ए उपहासलीला
सकेल्या, फाटिक जीभ फेरता
भूख्या जनोनो जठराग्नि जागशे,
संहेरनी भस्मकणी न लाधशे!

एप्रिल १९३२

जठराग्नि

रचिए रचिए अंबरचुंबी मंदिर,
चुनिए ऊँचे महल, मीनारे !
मढिए स्फटिक-से, टाँगिए बीच मे झाड़-फानूस,
जल के फव्वारे उड़ाइए रंगभरे ।

रचिए चंदनवाटिकाएँ,
गोल गहरे खिचाइए नवरंग गुम्बद
और कितने ही क्रीड़ागण, चंद्रशालाएँ
रचिए अवश्य !

हृदय को रुद्ध करती शिला को
सहेगा कैसे भविष्य दीर्घकाल तक ?
कोटि-कोटि जिह्वाओ मे फैलती
भूखे जनों की जठराग्नि जगेगी
दरिद्र की वह उपहास-लीला समेटने को;
खंडहरों की भस्मकनी भी नहीं मिल पाएगी !

अप्रैल १९३२

भोमिया विना

भोमिया विना मारे भमवा'ता डुगरा
जगलनी कुजकुज जोवी हती,
जावा'ता कोतरा ने जोवी'ती कंदरा,
राता झरणानी आंख ल्होवी हती

सूना सरवरियानी सानेरी पाळे
हसानी हार मारे गणवी हती,
डाळे झूलत कोइ कोकिलाने माळे
अतरनी वेदना वणवी हती,

एकला आकाश तळे ऊभीने एकलो,
पडघा उरबालना झीलवा गयो
वेराया बोल मारा, फेलाया आभमा,
एकलो अटूलो झाखो पड्यो

आखो अवतार मारे भमवा डुगरिया,
जगलनी कुजकुज जोवी फरी,
भोमिया भूले एवी भमवी रे कदरा,
अतरनी आखडी ल्होवी जरी

ऑगस्ट १९३२

रहनुमा बिना

घूमना था मुझे डूँगर-डूँगर बिना रहनुमा,
जंगल का कुंज-कुंज देख लेना था,
देखनी थी खोहे और गुफा-घाटियाँ,
रोते झरनों की आँखे पोछनी थी ।

सूने सरोवर के सुनहले किनारे,
गिननी थी मुझे हंसो की पंक्तियाँ;
डाल पर झूलते किसी कोकिला के नीड़ मे
बुननी थी अंतर की वेदना ।

अकेले आकाश के तले खड़ा अकेला मै
पकड़ने गया उरवोल की प्रतिध्वनियाँ;
बिखर गए बोल मेरे, फैल गए नभ में,
एकाकी निस्तेज मैं रह गया ।

सारा जीवन मुझे घूमना पहाड़ियों मे
देखने है बार-बार जंगल के कुंज,
घूमना है ऐसी घाटियो मे जहाँ रहनुमा भी भटक जाए,
पोछना है अंतर की आँखो को जरा ।

अगस्त १९३२

भोमिया विना

भोमिया विना मारे भमवा'ता डुंगरा
जंगलनी कुंजकुंज जोवी हती,
जावा'ता कोतरो ने जोवी'ती कंदरा,
राता झरणानी आंख ल्होवी हती

सूना सरवरियानी सोनेरी पाळे
हंसानी हार मारे गणवी हती,
डाळे झूलंत कोक कोकिलाने माळे
अंतरनी वेदना वणवी हती,

एकला आकाश तळे ऊभीने एकलो,
पडघा उरबोलना झीलवा गयो
वेराया बोल मारा, फेलाया आभमां,
एकलो अटूलो पाछो पडघो

आखो अवतार मारे भमवा डुंगरिया,
जंगलनी कुंजकुंज जोवी फरी,
भोमिया भूले एवी भमवी रे कंदरा,
अंतरनी आंखडी ल्होवी जरी

ऑगस्ट १९३२

रहनुमा बिना

घूमना था मुझे डूँगर-डूँगर बिना रहनुमा,
जंगल का कुंज-कुंज देख लेना था,
देखनी थी खोहे और गुफा-घाटियाँ,
रोते झरनो की आँखे पोछनी थी ।

सूने सरोवर के सुनहले किनारे,
गिननी थीं मुझे हंसों की पंक्तियाँ;
डाल पर झूलते किसी कोकिला के नीड मे
बुननी थी अंतर की वेदना ।

अकेले आकाश के तले खड़ा अकेला मैं
पकड़ने गया उरवोल की प्रतिध्वनियाँ;
बिखर गए बोल मेरे, फैल गए नभ में,
एकाकी निस्तेज मैं रह गया ।

सारा जीवन मुझे घूमना पहाड़ियों मे
देखने है बार-बार जंगल के कुंज,
घूमना है ऐसी घाटियों मे जहाँ रहनुमा भी भटक जाए,
पोंछना है अंतर की आँखो को जरा ।

अगस्त १९३२

वीडमा साजवेळा

विशाळ सहरा समु नभ पडघु वडु विस्तरी,
कह्यीय रणद्वीप शी नजर ना'वती वादळी
डूव्यो सूरज शात, गोरज शमी, अने रग सौ
घडी अघघडी स्फुरी अवनी-आढणे, आथम्या
सयु क्षितिजघेन, लोचननी रक्तिमा नीतरी
वीडेल जडवा खले जरी न पूवपश्चिम तणा
जरी थथरी कपता, पण न नेनतारा हसे,
न के कनकदतरेख समी वीज वाकी स्फुरे

हव नभनु शु थशे ? प्रबळक्ध डुगर, गिरि,
वनस्पति विशाळ गुबज उपाडनारा अही
नथी ! रविवियोगमा त्रुटी जशे ? तृणो मात्र ह्या !
डरु गभरु मानवी — अयुतवप केडेय जे
न आदिनरभिन्न — वामन करो करु ना ऊचा
तह्यी, थरथरी टटार थई, डोक ऊची करी
तृणो टचली आगळी उपर तोळना आभने !

३०-१-१९३३

चरागाह मे शाम

विशाल सहरा-सा बडा नभ पड़ा फैल कर,
कही भी मरुद्वीप-सी बदली नजर न आती ।
डूबा सूरज शान्त, गोधूलि शमित हुई,
और रंग सब घड़ी-आधी घड़ी स्फुरित होते
अवनि की ओढनी मे अस्त हुए ।
छा गई क्षितिज पर अलसता, लोचन की रक्तिमा निथरी :
बंद जबड़े तनिक भी खुले नही पूर्वपश्चिम के ।
थरथराते, जरा काँप उठते, पर नही हँसते नयन-सितारे,
या नही स्फुरित होती कनकदंत रेखा-सी बंकिम दूज।
क्या होगा अब नभ का ? प्रबलस्कंध डूंगर, गिरि,
वनस्पति विशाल — कोई गुम्बद उठानेवाले यहाँ नही ।
रवि वियोगमे टूट जाएँगे ? यहाँ तो केवल तृण ।
डरता मैं भीरु मनुष्य – अयुत वर्ष बाद भी जो
नही है आदिम नर से भिन्न – बौने हाथ, उठाऊँ न उठाऊँ;
इतनमे थरथराते, बदन ताने, ऊँची करके गरदन
तृण अपनी छिगुनी पर उठा लेते आसमान ।

३०-१-१९३३

नम्रता

नम्र हु ?
विशेष नम्र हु थकी बीजा हशे न काई शु ?
हशे जरूर सो वसा।
स्वीकारती ज माहरी अहो विनम्रता।
विनम्र हु ?
अरे! घटे ज नम्रता धर्या तणीय नम्रता।
धरु ज ए।
गुमान डखनी कशो तमा पछी मने ?
गुमान जीतनार हु ?
अरे हु झाखरा पछाडी आम तो फरु।
कदी न नम्र हु ?
लडु, मथु, छता न केम मेळवो शकु।
न केळवी शकु।
न हाजरी लहु।
थती छनो उरे विलोकु रे अलोप त्या थतो।
हाथताळी देई तुन धूत चाली ए जनी।
८-२-१९३३

नम्रता

नम्र मै ?
मुझसे वढकर नम्र नही होगा कोई और क्या ?
होगा जरूर सौ फी सदी !
मान लेती अहो मेरी विनम्रता !

विनम्र मै ?
अरे मौजूँ है
नम्रता धारण करने की भो नम्रता !
धारण करूँ उसे ही !
गुमान-डंक की नही रहेगी फिर कोई तमा मुझे ।
गुमान जीतनेवाला मै ?
अरे ! घूमता हूँ मे तो वैसे झंखाड़के आसपास ही !

नही मै कभी नम्र ?
लडता हूँ, मथता हूँ, फिर भी उसे क्यों पा नही सकता ?
न तो साध पाता !
न पाता उसे हाजिर !

देखूँ उसे हृदय मे प्रकट होती,
रे, उसी पल वह अलोप हो जाती !
धूर्त वह, तुरन्त ही सफाई से छटक जाती !

८-२-१९३३

वळता पाणी

नदी दोडे, सोडे भडभड वळे डुंगरवनो,
पडे ओळा पाणी मही, सरित हैये सळगती
घणु दाझे देहे, तपीतपी ऊडे बिंदु जळना
वराळो हैयानी पण मदद व ना दई शके
जरी थभी जने उछळी, दई छोळो तट परे
पहाडोने छाटी शीतळ करवानु नव बने
अरे ! जे प्हाडोए निज सहु निचोवी अरपियु
नवाणोमा, तेने समय पर दे बुद न शके

किनारानी आघी जड कठण माथा कयम करी
उथापी-लोपीने स्वजनदुखने शात करवु ?
नदीने पासेना सळगी मरताने अवगणी,
जवु सिंधु केरा अदीठ वडवाग्नि बूझववा !
पछी त्याथी को दी जळभर भले वादळ बनो,
वही आवी आही गिरिदव शगावानु थई रहे !
अरे ! ए ते क्यारे ? भसम सहु थै जाय पछीयी ?

७-५-१९३३

जलता पानी

नदी दौड़ती, दहकते पार्श्वमें भक-भक डूंगर-वन;
पडती छायाएँ पानी मे, सरिता अंतर मे जलती है,
दग्ध होती देह, तप तप कर उड़ते जलबिन्दु ।
हृदय की भाप भी कुछ मदद पहुँचा सकती नही ।
जरा रुक कर उछल कर, तट पर तरंग-छलक फेंक कर
पहाड़ो को छिड़काव द्वारा शीतल करना संभव नही होता ।
अरे! इन पहाड़ो ने अपना सब कुछ निचोड़ कर
अर्पित किया धाराओ मे,
और उन्हे यथा-समय बूंद भी मयस्सर नही!

किनारे की अंकित जड़ कठिन मर्यादा का
लोप करके कैसे स्वजन-दुःख को शान्त करे ?
निकट के जल-मरनेवालों की उपेक्षा करके
नदी को जाना है सिन्धु की अनदेखी वड़वाग्नि बुझाने को!
फिर चाहे वहाँ से जलभरी बदली बन कर
वह आकर यहाँ संभव हो उसके लिए
बुझाना गिरि-दावानल!
अरे, लेकिन वह 'कब ? जब सब हो जाए भस्म, तब ?

७-५-१९३३

एक बाळकीने श्मशान लई जता

तने नानीशीने वशु रडवु ? शु वकळवु ?
छता सौये रोया ! रडो ज वडमा लोकचारमे,
हसी जोके हैये निज घर थकी काश टळता
विचारी वाना वे गुपत चखविदुय वचमा
खर्यां, स्पर्श्यां तुने नहि यमसमा डाघुजन ते
निचोवे शा काजे नयन अमया अ'य घर ? न
विचार्युं हु-जेवे, मरण धूणु ते शीद रडवु ?
—छता सौये रोया स्ढिसर दई हाय लमणे !
सभे लने चाल्या, जरी जई, वळाके वळी गया,
तही ओटे तारी सरखी वयनी गोठण दीठी
रही'ती ताकी ए, शिर पर चढीने अवरने
सूई रहेवानी आ रमत तुज देखी अवनवी,
अने पोते ऊंचा कर करी मथी क्याक चढवा,
—अमे आगे चाल्या—रमत परखी जे ज कपरी,
गळा पूठ नाखी कर, पग पछाडी, स्वर ऊंचे
गई मडी रोवा ! तुज मरणथी खोट वसमी
अकेलीए आखा जगत मही एणे ज वरती !
अने रोवु न्होतु पण मुजथी रोवाई ज गयु !!

१९३३

एक बच्ची को श्मशान ले जाते हुए

तुझ पर—छोटी-सी पर—क्या रोना, क्या कलपना ?
फिर भी रोये सब ! दादीमाँ भी रोई लोक-लाज से,
भीतर मुसकाई वैसे निज घर से देख बला टलते ।
बेचारी माँ के दो छिपे आँसू बीच में झरे,
तुझे छू भी नही पाए ।
यम जैसे शवयात्री तो भला दूसरे के घर
अकारण निचोड़ेंगे क्यों नयन ?
और मुझ जैसे ने सोचा—इस कोमल मृत्यु पर क्यों रोना ?
सब रोये फिर भी रूढ़िवश, हाथ पर गाल रख कर !

चले कंधे पर लेकर, जरा बढकर मोड़ पर मुड़ गए,
वहाँ चबूतरे पर देखा तेरी समवयस्क सखी को ।
ताक रही थी वह, सर पर दूसरे के चढ कर
सोते रहने का यह खेल अजीब देख कर उसने
खुद ऊँचे उठा कर हाथ कही चढने की चेष्टा की;
हम आगे बढ़े—निरख कर उस मुश्किल खेल को—
गले के पीछे हाथ डाल कर,
पैर पटकती, ऊँची आवाज से
लग गई रोने वह !
तेरे मरण की असह्य कमी
सारे जगत मे केवल एक उसने ही अनुभव की ।
और, रोना नही था मुझे, फिर भी आ गई रुलाई !!

१९३३

'आतिथ्य' से

वे पादडा

साजने समय घेर आवता,
मागमा नित निहाळतो तने
–वृक्ष शुष्क, मनभावतु छता,
आज कै कही रह्यु'तु शु मने ?–

'जोईने सुक्ल डाळडाखळी–
माय ए रुचिरता, तु राचतो
आज देख मुज काय पांगरी,
वेक पर्णथीय प्राण नाचतो'

आमनी सुभग भो समक्ष वे
पादडा पलपलावी, वृक्ष ए
वे क्षणो मलकचु, डाळथी ज त्या
पक्षियुग्म ऊडी, जाय क्यानु क्या

१९–८–१९४५

दो पत्ते

संध्या के समय
घर आते-आते
रोज मार्ग में देखता
—वृक्ष शुष्क, फिर भी मनभाता,
कह रहा आज क्या कुछ मुझसे ?—

'देख कर इन सूखी टहनियों और डालियों में
कुछ रम्यता
होता तू खुश ।
देख आज यह काया मेरी पल्लवित हुई
दो-आध पत्तों से भी
प्राण ये नाचते ।'

आकाश की सुभग पृष्ठभूमि में
दो पत्तों को हिला-हिला जरा,
वृक्ष दो क्षण मुस्कराया;
डाली से उड़ गया इतनेमे विहंग-युगल
न जाने कहाँ !

१९-८-१९४५

वाटडी

वाटडी, वन रे वगडानी हु वाटडो
भटकु हु भमती डुगरने माथे,
रमती रुमझुमती नदीओनी साथे,
लेती कुजोने कोडभरी वाथे,
धरती माथे शु सेंथी पडी   वाटडी
ओतरदख्खण आमतेम अटवाती,
वननी ते वीजळी शी चोगम वीयाती,
पथीने देखीने सामेथी धाती,
सूना वेरानमा हु आथडी   वाटडी
पगला नीचे मारी काया पीलाती
जळनी पथारीए पडता वीलाती,
अहीयी फेंकाई सामे तीरे झीलाती,
चाटु आकाश गिरिए चडी   वाटडी
घेली गुफाओ ने कोतरोमा घूमती,
वनराने माथे को तेग समो चूमती,
अभियागतना रहु पावलिया चूमती,
घसी में एने काज जातडी
वाटडी, वन रे वगडानी हु वाटडो
११-१०-१९४४

पगडंडी

पगडंडी हूँ मै, वन-जंगल की पगडंडी।
भटकती हूँ मै, घूमती पहाडी के सिर पर,
खेलती हूँ रुनुझुनु, खेलती नदियों के साथ,
कुंजो को अपनी बाँहों मे बाँध लेती हूँ;
मै जैसे धरा के केश की माँग हूँ।

उत्तर में और दक्षिण मे इधर-उधर उलझती हूँ,
वनकी बिजली-सी चारो ओर घूमती हूँ,
प्रवासी को देख कर सामनेसे दौड़ आती हूँ
निर्जन विराने मे भटकती हूँ ।

पदचिह्नों के नीचे काया मेरी दबती है,
जल की शैय्या मे पड़ते ही विलीन होती हूँ,
यहाँ से फेकी जाकर उस पार निकलती हूँ,
गिरि पर चढ कर आकाशका अवलेह करती हूँ ।

पगली गुहाओं मे और कान्तारों में घूमती हूँ,
वनराजि के सिर पर तलवार सी झूमती हूँ,
अभ्यागत के पाँव चूमती रहती हूँ,
उसके लिए मैने काया का कष्ट झेला है,
पगडंडी हूँ मै, वन-जंगल की पगडंडी ।

११-१०-१९४४

स्त्री

पुरुष — "तमे वने वेसो, उभय निरखु एक-नजरे,
निराते बनेना ऋजुकुटिल सौ लक्षण लहु
अहो तु छे केवी! हृदय अवगाही तुज रहु,
सुधा सीचे देवी क्षत उर पडे ए अवसरे
अने हुये न जो क्षणिक कण अर्पु तव सुखे,
उमगे स्वीकारे हृदय हरखाती स्मितमुखे
अने तु? हा तु तो जगनी अवळाई वधीय ते
भरी हैये, पीडे जरीजरीक्मा भूडो गतथी!
न मारा हैयानो खप कई तने, तोय अमथी
विचाराने एळे घडीघडी चडावे तुज लते
कहु के दे छोडी, जगतल जती खेंची वळगी,
महामूर्छा ना आ जनम मही थावी ज अळगी"

स्त्री — पछी में पूछ्यु "छे अवर जण को? हु ज छु अहो
जुओ तो पूठे"

पुरुष — "हा! अमथी तु ज वने वनो रही!"

१-६-१९४४

स्त्री

पुरुष : " बैठो तुम दोनो; देखूं एक निगाह मे दोनोंको,
आराम से कहूँ दोनोके सरल कुटिल लक्षण सभी।
देख, कैसी है तू!
अवगाहन करता हूँ तेरे हृदय का।
उर पर क्षत होने के अवसर पर
सिचन करती है तू सुधा का।
और मै भी तेरे सुख मे
करता हूँ एकाध कण समर्पित जब
स्मितमुख से, उल्लास से
हृदय से प्रसन्न हो स्वीकार करती है।
और तू?
हां, तू तो विश्व की सारी वक्रता
हृदय मे भरकर देती है पीड़ा क्षण क्षण
बुरी तरह!
तुझे नही है जरूरत मेरे हृदय की
फिर भी उस बेचारे को
अपना आदी करती रहती है वृथा।
कहता हूँ जब छोड़ दे
तू खीच कर ले जाती है जगतल मे,
महामूर्छा यह न होगी इस जन्म मे
कभी विलग मुझसे।"

स्त्री : फिर पूछा मैंने: "कौन है वह दूसरी?
यहाँ तो मै ही हूँ जरा मुड़कर देखो पीछे।"

पुरुष : "हाँ, तू ही क्रम से दोनो बन कर रही है।"

१-६-१९४४

सुधा अने वारुणी

कदीक स्फुरती मने विधुनी बीजरेखा हसी !
बनी घडीकमां प्रपूर्णरस पूर्णिमानो घट
पीधी सुभग ए सुधाघटनी घूट ज्यां चरणी,
ढळ्या सुभग आत्म मूर्छित अनतताने तट
भीजावी उर रामरोम सखी विस्तरे तारुणी
सुहागभर सौम्य जीवन तणो रसश्री-पट
कदी झलकशो क्षणो क्षितिज चित्तने चचल,
चूमी टपकता मदे अधर दूर झूमी रह्यो
कपोल छलके, रसोर्मि ढळके, सुदृग्-अचल
स्फुरी मधुरवु रहे पूछी ज के चहो ?—ना चहो ?
प्रभा उघडी अगअग अणतृप्तिनी आरुणी
अहो मदिल्ता, अहो प्रणयछाक, लाली अहो !
मळी कदीय कोईने फक्त ते सुधा वारुणी ?
पीओ हृदयवत हे ! कदी सुधा, कदी वारुणी
१४-१०-१९४३

सुधा और वारुणी

कभी स्फुरित होती है—
मानो चंद्र की दूजरेखा हँसती हो ।
और फिर बनी क्षणेक में
प्रपूर्णरस पूर्णिमा का घट ।
और जब उस सुधाघट की एक घूंट चसचस कर पी,
ढली यह आत्मा, मूर्छित हो
अनंतता के तट पर।
भिगोकर हृदय रोम-रोम में फैलता है
तारुणी सुहागभर सौम्य जीवन का रसश्री-पट ।

कभी चित्त के क्षितिज पर
एक झलक-सी कौध गई
चुम्बन टपकते हुए मद से दूर झूम रहा अधर ।
कपोल छलकते, रसोर्मि ढुलकती
सुदृग्-अंचल स्फुरित होते है माधुर्य से,
पूछते है: चाहते हो?—नही चाहते हो?
खिलती है अंग-अंग पर अतृप्ति की आरुणी प्रभा।
अहो मदिलता, अहो प्रणयमस्ती, लाली अहो!

मिली है क्या कभी किसी को केवल सुधा?
हृदयवंत तुम
कभी पीओ सुधा, कभी वारुणी ।

१४-१०-१९४३

अषाढी मेघली राते

आषाढी मेघली राते,
हो मरमी !
आवी एक मेघली राते,
हैया चढ्या'ता वाते,
हो मरमी !
हैयाना वीतक्नी वाते

आसुए आजी आखडी, आनदे ऊजळु मुख,
सभरा आ ससारमा सुदरी शोधे सुख
शोधे छे पगले दबाते,
हो मरमी !
ढूढे छे काळजे कपाते
आषाढी मेघली राते,

एक समे घन टपक्ता, मोर करे मदशोर,
आतमने अर्णचितवी लागी गई झकोर
हैया हैयानी साथे
हो मरमी !
बधाया'ता एक गाठे
आवी एक मेघली राते,
हो मरमी !
आषाढी मेघली राते

२१-७-१९४५

बादलछाई रात

आषाढ की बादलछाई रात मे
हे मर्मी,
हाँ, ऐसी ही एक बादलछाई रात मे
हृदय थे लीन गुपचुप बातों मे
हे मर्मी, लीन
बीती बातो मे, जो हृदय पर से गुजर चुकीं।
आँसू से अंजित कर आँख
आनंद से उज्ज्वल मुख,
भरे पूरे इस संसार मे
खोजती है सुन्दरी सुख,
खोजती है दबे पाँव
हे मर्मी,
ढूंढती है जलते कलेजे से ।
एक बार
मेघ बरसता था
मोर करता था मदशोर,
आत्मा को यकायक लग गई झलक,
हृदय हृदय के साथ
हे मर्मी,
बँधे थे एक गाँठ मे ।
ऐसी एक बादलछाई 'रात मे,
हे मर्मी,
आषाढ की ऐसो एक बादलछाई रात मे ।

२१-७-१९४५

टपटप नेवा

वळीवळीने रातभर टपटप नेवा चूए
आभझरूखे एकलु कोण रही रही रुए ?
चमके तमरा तिमिरमा, तरुथी जलकण खरे,
व्होळा कदलीपण पर फोरा खखडघा करे
घन गगडे, थथरे धरा, छाती ऊठे छळी,
पडघा गिरिगोरभता प्रगटे उरथी वळी !
पडखा फरता जीवनी कोण वेदना कळे ?
टपटप नेवारव थकी लची पोपचा ढळे
२०-७-१९४५

पानी गिर रहा

फिर फिर से
ओलती से पानी गिर रहा है
रात रात भर ।
आकाश के झरोखे पर
कौन अकेला रो रहा है
रह रह कर ?
झिल्लियाँ झनकारती है तिमिर में,
तरु से जलकण टप टप गिरते हैं ।
विशाल कदली के पत्तों पर
बूँदे खड़खड़ाहट करती है ।
बादल गरजते है,
धरा काँपती है,
छाती भय से कँप जाती है,
गिरि से आते प्रतिघोष हृदय मे पुनः पैदा होते है ।
करवट बदलते रहते जीव की वेदना को कौन समझे ?
टप टप
ओलंती से गिरते पानी की आवाज से
भारी होकर पलके ढलती है ।

२०-७-१९४५

श्रावण हो

श्रावण हो !
अरधी वाटे तु रेलीश मा,
मारी भरी भरी हेल, छेडीश मा !
अरधी वाटे तु रेलीश मा
झोला ले घन गगनमा, सरवर ऊछळे छोळ
छालक जरी तुज लागता हैयु ले हीलोळ
अरधी वाटे
आछा छायल अगना जोजे ना भीजाय,
काचा रगनो कचवो रखेन रेल्यो जाय
अरधी वाटे
श्रावण ! तारा सरवडा, मारो अखियनधार,
तु वरसीने रही जशे, एना बारा मास नितार
अरधी वाटे तु रेलीश मा
श्रावण हो !

१०-७-१९४५

हे सावन !

हे सावन !
मत बरस रास्ते के बीच
मेरे भरे पूरे घट को मत छेड !
रास्ते के बीच मत बरस ।

झोंके खाता है मेघ गगन में,
सरोवर उछल रहा है लहरों मे ।
थोड़ी सी तेरी छलक लगते ही
मेरा हृदय झूलने लगता है—
देखो, भोंग न जायें मेरे अंग के झीने वस्त्र,
मेरी कंचुकी है कच्चे रग की,
शायद बह जाय रंग।

सावन ! तेरी बौछार
मेरी अँखियन धार;
तू तो बरस कर रह जायेगा,
वे तो बरसेगी बारहो मास।—
रास्ते के बीच मत बरस
सावन हे . . . ।

१०-७-१९४५

गोरी मोरी, फागण फाल्यो जाय

गोरी मोरी, फागण फाल्यो जाय
के चैतर थाणे दीठा रे लोल
व्हाला मोरा जोबन झोला खाय
के झूलणा लागे मीठो रे लोल
गोरी मोरी हैया ढळी ढळी जाय
के झूलणा वधा लगी रे लोल
व्हाला मारा झूलणो मेल्यो न जाय
के झूलणु जिंदगी रे लोल
गोरी मोरी चैतर चाल्यो जाय
के वैशाख रही जशे रे लोल
व्हाला मारा आ शो अधीरो थाय
के आज ओछी काले हशे रे लोल

गोरी व्हाला मेली आवलियानी डाळ
के चाल्या चाकरी रे लोल
लागी ऊठी वैशाख जेठनी झाळ
के वेळा आकरी रे लोल
आवी त्या तो आषाढी मेघ सभळाय,
गोरीनो भीज्यो कचवो रे लोल

फागुन

गोरी मेरी,
फागुन पुर बहार मे बीता जा रहा है।
चैत्र किसने देखा है?
प्रिय मेरे,
यौवन झोके खा रहा है,
झूला बडा प्यारा लग रहा है।
गोरी मेरी,
हृदय ढुलक-ढुलक जाते है,
कब तक झोके खाओगी?
प्रिय मेरे,
झूला छोड़ने को दिल नही करता;
जीवनभर झूलते रहेंगे।
गोरी मेरी,
चैत्र बीत रहा है,
वैशाख भी बीत जायेगा।
प्रिय मेरे,
अधीर क्यों होते हो? नही रहेगी कल आज।

गोरी को
प्रिय ने छोड़ दिया अमुवाकी डाली,
चाकरी के लिए चल पड़े।
वैशाख-जेठ की ज्वाला लगी
वेला अति कठिन है।
आ गरजता है आषाढ का मेघ
गोरी की कंचुकी भीग गई।

व्हाला मोरा फागण पाछो लाव्य
ने चैतर क्यां मूक्यां रे लोल
आनमां फरके श्रावणवीज,
गोरीनी रूठी आखडी रे लोल
व्हाला मोरा वीजनो न करजे धीर,
भीजाती न अही खडी रे लोल
१९३८

कोक

बारणां वध हु ज्यारे कर छु, चित्तमा रह्यु
कोक त्यां बोली ऊठे छे 'कोण व्हार रही गयु?'
२-९-१९४५

प्रिय मेरे,
फागुन को वापिस ला दो,
चैत्र को कहाँ रख दिया ?
आकाश मे सावन की बिजली कौंधती है,
गोरी की आँख रूठ गई है।
प्रिय मेरे,
मत करना दूज की तीज
मै यहाँ खड़ी भीग रही हूँ ।
१९३८

कोई

बंद करता हूँ जब जब मै द्वार;
बोल उठता है चित्त मे बसा कोई —
'कौन रह गया बाहर ?'
२-९-१९४५

—'प्रसीदत रुद्यते'

राष्ट्रमाता कस्तूरबाना मत्यु पर ।

[प्रसीदत रुघने—रडा जवाय छे तम प्रसन्न रहा। महा कवि भवभूतिना 'उत्तररामचरित' मा रामनो उदगार]

अबुध वयमा झाल्यो'ता आ करे कर कोमल
गभरु अबलानो, तारो ते रह्यो ज वनी बल
अडग हृदये झाल्यु सूत्र, स्थिरा थई, हाथमा,
वितक कई जे व्होर्यां वीत्या, सह्या सहु साथमा
जगअनुभवे स्हेजे हैया पछीथी हळी गया,
जीवतर तणा व्हेणो वने हता ज भळी गया
कठिन कपरो आयुर्यात्रा सदा मुज कारमी
पण तुज अरे जीव्या सामे गणु कुसुमा समी

परिचय हवे साठे वर्षे शु आम पूरो थवा?
दिन विरतिना छो आव्यो, जो हता कदी आववा!
मुज हृदय आ वाळीं झाडी कर्यु कई तो नयुँ
नयन भरीने कयाथी तारो जरी उर नीतर्यु!
गई ज शीखवी, भोळी जेने गणी हती, धम ते,
स्मरण वनी ए साध्वी! आत्मन्, प्रसीदत रुद्यते ।

२५ ४ १९४४

— प्रसीदत रुद्यते

राष्ट्रमाता कस्तूरबा के निधन पर

['प्रसीदत रुद्यते—आ जातो है मुझे रुलाई, आप प्रसन्न रहे!' महाकवि भवभूति के 'उत्तररामचरित' मे, रामका उद्गार]

ग्रहण किया था अबुध वय मे इस कर में
कोमल कर गबरू अबला का,
किन्तु रहा बन कर वह बल।
अडिग हृदय से पकड़ा जीवनसूत्र,
हुई उसमे तू स्थिर;
मोल ली—बीती—जो कुछ आपत्तियाँ,
सहा उन सब को एकसाथ।
जग-अनुभव मे फिर हिलमिल गए हृदय सरलता से।
मिल गई थी जीवन की दोनो धाराएँ।
आयुर्यात्रा मेरी रही है कठिन दारुण
किन्तु तेरे जीने की तुलना मे तो लगती कुसुम-सी।
अब साठ वर्ष के बाद क्या पूरा होगा परिचय ऐसे?
आनेवाला था यदि विरति का दिन,
भले ही आया!
किया था इस हृदय को झाड़—बुहार कर साफ,
फिर भी भर कर आँख वह कैसे—कहाँसे निथर आया?
सिखा गई धर्म, जिसे माना था भोली;
स्मरण बनी वह साध्वी! आत्मन्, प्रसीदत रुद्यते।

२५-४-१९४४

कवि

[एना चवितत्वना व अगा–म अन अहम्–वच्च सवाद]

ते शु छे ?

हु   नथी कई ज !

ते   ले ! कइ वाल, बोल
   शाने रिसाय ? कथनी तुज सव खोल

हु तु तो वदे कई न पाणीथी पातळो हु
   वाचाळताथी बनु

ते   शु नव हुय मोहु
   वाचा विषे ?

हु   बहुय ! शब्दथी मौनभार
   आच्छादतो तु, रजनी ज्यम अधकार
   नक्षत्रना पट वडे छूपवे अरे ना
   केमेय काम पडशो तुजथी ! न जेना
   छे वर्तने जरीय ते सुकुमार भाव
   सार लहे तुजथी विश्व रसोमिल्हाव,
   टाळे तु एक मुजने, मुजमा वसीने !
   छे याद शब्द कदी एक वद्यो हसीने ?
   ने सर्व निष्ठुरपणु ठलवाय तारु
   आ धय पीठ मुज ऊपर ! जाय मारु
   आयुष्य वेठ करता तुज, ने तने तो
   मो खोलवा न अवकाश कदी रहेता !

ते ए तो भला ऊल्टनी सहु वात, शाने
   बोलाववा बहु करे तु मने पराणे ?

कवि

[इसके व्यक्तित्व के दो रूप –' स ' और ' अहम् '-के बीच सवाद]

वह : क्या है ?

मै : नही है कुछ भी !

वह : अरे ! बोलो, कुछ तो बोलो ।
रूठते काहेको ? खोलो अपनी सारी कथनी ।

मै : तुम तो कहते नहो कुछ ।
और बन जाऊँ मैं पानी से भी पतला
वाचालता से ।

वह : क्या नहीं होता मोहित वाचा पर मै भी ?

मै : वहुत-से ! शब्द से आच्छादित करते तुम
मौन-भार को,
ज्यो अंधकार को छिपा देती रजनी
नक्षत्रपट से ।
अरे, न पड़े पाला कभी तुम जैसोंके साथ !
नहो जिसके वर्ताव मे तनिक भी सुकुमार भाव ।
सारा विश्व पाता तुमसे रसोर्मि का चाव,
टालते तुम केवल मुझे, वस कर मुझमे !
है याद कि कभी कहा एक भी शब्द सस्मित ?
और सारी निष्ठुरता तुम्हारी आ पडती
मेरी इस धन्य पीठ पर !
बीत रहा मेरा जीवन तुम्हारी वेगारी करते,
और तुम्हे तो मुख खोलने का भी
नही मिलता कभी अवकाश !

वह : वह तो भला होती है दिल की वात,
क्यो प्रेरित कर रहे मुझे वोलने को वरबस ?

हु जोयु ? कया रही ज आवर ए ललाटे !
मे शु क्युँ न तुज खातर ? वाटघाटे
घमी तने घणु घणु रीझव्यो फूलोना
पुजे सुगंधिभर कोकिलबुल्बुलोना
गीतो सुधास्रवत में सुणव्या, सुमुंजे
दीधी सुषुप्ति, जहो कल्पनस्वप्न गुजे
मत्त द्विरेफ सम, निर्झरवारितीरे
तर्प्यो तने मदिल म्हेकभर्या समीरे
ने अजना नयनमा कई ग्रथअर्के
कीधा वधी चमक जीभनी प्रौढ तर्के
अर्पी तने विविध प्रीति जगज्जनोनी,
लीला चखाडी कई लोल सुलोचनोनी
वह तु ज, एथी वधु ते पछी शु करु हु ?
तारु परतु कदी एक गयु न ऊहु !

ते शु थाय वीजु ?

हु थई शु न शके वई ज ?
तारी अने नथी मने समजाती खीज
हु हाफतो कदीक दूरथी दोडी आवु,
थाशे प्रसन्न गणी क धन गुप्त लावु
मूकु करे तव हु कपत पत्र मूक,
शु जाण्यु शी रही गईय हशे ज चूक,
तु जोई स्हेज करी दे टुक हाल भूडे,
ने काळजानी करचो मुज साथ उडे

ते भारे तने पडतु कष्ट ?

मै : देखा? रही आखिर इस भाग्य मे तो वही कथा!
मैने क्या क्या नहीं किया तेरे खातिर?
घूम कर बाट-घाट बहुत बहुत मनाया तुम्हे :
फूलो के पुंज पर
कोकिल-बुलबुल के सुधा झरते
सुनाये सौरभभरे गीत;
सुन्दर कुंज मे दी सुषुप्ति;
जहाँ गूँजते कल्पना-स्वप्न मत्त भ्रमर की तरह;
निर्झर के तीर तर्पित किया तुम्हे
मदिर समीर से।
और कितने ही ग्रंथों के अर्कों का लगाया
अंजन तुम्हारी आँखो मे,
और बढी तुम्हारी जिह्वा की चमक प्रौढ तर्कों से।
अर्पित की तुम्हे विविध प्रीति जगज्जनो को,
लीला चखाई कमनीय लोचनों की।
तुम्ही कहो, इस से अधिक क्या कर सकता मैं?
किन्तु नही गया कभी तुम्हारा एक यह 'ऊँहूँ'!

वह : क्या हो सकता और?

मैं : नही हो सकता क्या कुछ भी?
नही समझ पाता मै तुम्हारी खीज।
मै कभी दूर से दौड आऊँ हाँफता,
ले आऊँ कोई गुप्त धन
मान कर कि तुम होगे प्रसन्न।
रखूँ तुम्हारे हाथ मे काँपता पत्र मूक,
क्या पता क्या रही गई होगी चूक,
देख कर जरा कर देते तुम टुकडे बुरे हाल,
और उड़ती फिर किरचें मेरे दिल की, साथ।

वह : पड़ता तुझे बडा भारी कष्ट?

हु जोयु ? क्या रही ज आखर ए ललाटे !
म नु क्युं न तुज खातर ? वाटघाटे
घमी तने घणु घणु रीझव्यो फूलोना
पुजे सुगंधिभर कोकिलबुल्बुलोना
गीतो सुधास्रवत क सुणव्या, सुकुंजे
दीधो सुषुप्ति, जहो कल्पनस्वप्न गुंजे
मत्त द्विरेफ सम, निझरवारितीरे
तर्प्यो तने मदिल म्हेकभर्या समीरे
ने अजनो नयनमा कई ग्रथअर्के
कीधा, वधी चमक जीभनी प्रौढ तर्के
अर्पी तने विविध प्रीति जगज्जनोनी,
लीला चखाडी कई लोल सुलोचनोनी
म्हे तु ज, एथी वधु ते पछी शु करु हु ?
तारु परतु कदी एक गयु न ऊहु !

ते शु थाय बीजु ?

हु थई शु न शके वई ज ?
तारी अने नथी मने समजाती खीज
हु हाफतो कदीक दूरथी दोडी आवु,
थाशे प्रसन्न गणी क धन गुप्त लावु
मूकु करे तव हु कपत पत्र मूक,
शु जाण्यु शी रही गईय हशे ज चूक,
तु जाई स्हेज करी दे टुक हाल भूडे,
ने काळजानी करचो मुज साथ उडे

ते मारे तने पडतु कष्ट ?

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

नि[illegible]

म[illegible]

और [illegible]

अंजन [illegible]

और व[illegible]

अर्पित [illegible]

लीला [illegible]

तुम्ही कहो, [illegible]

किन्तु नही [illegible]

वह : क्या हो सकता [illegible]

मैं : नही हो सकता [illegible]

नही समझ पाता [illegible]

मै कभी दूर से [illegible]

ले आऊँ कोई गुप्त [illegible]

मान कर कि तुम हो[illegible]

रखूं तुम्हारे हाथ में [illegible]

क्या पता क्या रही ग[illegible]

देख कर जरा कर देते [illegible]

और उड़ती फिर किरचें [illegible]

वह : पडता तुझे वड़ा भारी का[illegible]

हु — न रे! मजा छे!
जाणे तु—आ सुमनसेज समी सजा छे?

ते — तारी ज एक जगमा शु नवी नवाई?
जभी यईय अणबोल गया तमाई

हु — ते तो थवु ज निरमायु दिसे!

ते — भले ता!

हु — मूगु छु जा! हुय तने बस तो वहेतो!

ते — ते जेवी तारी मरजी! न मने यदापि
तु फर्ज पाडी शकशे, पण धाक आपो
य मादला यविपणा करवा, ऊचा वा
हैया थकी अदवगा वळी गीत गावा,
उडाववा वितथ लागणीना गबारा,
रेलाववा रसथी रोतल वा लवारा

हु — शाने न तो भमकरगभर्या मिजाजे
तु याढनो नवरसोमिलचत साजे
सौंदयसभृत सुछदसवारी तारी?
रहेशु अमे नीरखीने नयणा ज ठारी
खेलाव छद नवला तु रवाल चाले,
लै रागमा, असप को अरबी मिसाले

ते — केवु तने सुभग ते गमतु ज चित्र?
ने सब आचरण तो ज्यम हो अमित्र

हु — शु हु अमित्र? वळी ते तुज?

ते — तुय ते! हा!

हु — क्यारे कहे तुजनी रुधी ज सजनेहा?

ते — घेरी पडघो तु भरडो लई, को न बारु,
ने जो रहे कृपण आ रसविश्व मारु

मै : नही रे! है मजा!
जानते तुम—यह तो है सुमनसेज-सी सजा?
वह : जग में क्या तुम्ही नया अचरज हो?
जन्म कर कितने ही हो गए तबाह ।
मै : दीखता है यह तो हो चुका निर्मित !
वह : ठीक है तो !
मै : जाओ छोड़ता हूँ तुम्हे भी वहता !
वह : सो तो जैसी मरजी तुम्हारी !
नही कर सकोगे तुम मुझे मजबूर कदापि,
पर डाँट देकर माँदे माँदे कविपने करने को,
मुखर हृदय से सस्ते गीत गाने को,
वितथ संवेदना के उड़ाने को गुब्बारे,
रस से रेलाने को ढीले मनहूस बकवास ।
मै : क्यों नही चमकीले रंगभरे मिजाज से
निकालते तुम नये रस, नई ऊर्मि के साज से
अपनी सौन्दर्यसंभृत सुछंद-सवारो?
देख कर कर लेगे हम ऑखो को तुष्ट ।
खेलाओ तुम छंदो को नई रहवाल चाल से
कस कर सवारो किसी अरवी अश्व की मिसाल से।
वह : कैसा प्यारा लगता तुम्हे वह सुभग चित्र?
और है वर्ताव तो सारे ज्यों हो अमित्र ।
मे : क्या मै अमित्र? और वह भी तुम्हारा?
वह : तुम भी ! हाँ ।
मै : कहो, कव की कुण्ठित मैने तुम्हारो सिसृक्षा ?
वह : घेर पड़े हो तुम भारी लपेट मे लेकर,
नही है छुटकारा कोई;
और देखो, रह जाता है कृपण मेरा यह रसविश्व।
मै : मेरी क्या हैसियत? इससे उलटा,

हु मारु गजु नु ? उल्टा थइ वळ, भाई,
चाल्या जता हरण मारु करो तु क्याई !
रहेतु शरीर पडी छेक ज सूनमून
गाजाय ते बहु हसे मुज जाई धून

ते रे वाह ! दे पत मने न, जमावी छानो
तु डायरो अणगणो कई वासनानो
बेसे, न त्या करी शकु जरी डाकियुये
ऊभो बहार रहु भिक्षुक जेम

हु तुये
बाले अरे नु ? जगरग विषे गळथी
पाली न तु ज पटके मुजने वळेथी
घुमावता, जल विषे ज्यम हाउ मच्छ !
ने राखवा ज तव तो कर वेष स्वच्छ !
धकारता तु रसतपक काव्यवीणा,
ने लाज ना कदी तन मूकता ज हीणा
शब्दो मुखे मुज जगत्-व्यवहारमा ते
लागे घणु वरवु भूली शके शी वाते
तु सत्यनु मुख ?

ते हिरण्मय पात्रथी ते
जाजे न ढाकयु कदी जाय ज कांई रीते
दारिद्रचसवननु व्रत हा कठोर !

हु ने ना तथापि थव निघण के नठोर !
केवा तु ? तप्ति तुजने नहि के जीवाडचो,
सेवा तने अरपी आज लगी, रमाडचो
तेमा तने नव जरी पण ऊणु चाले,
ने रिक्तता तु लखतो बस आ कपाळे

ते ना रे मने, अवरने पण सेवी रहेवा

भाई, कभी तो
करके मेरा हरण तुम ही चले जाते हो कहीं!
पड़ जाता शरीर निहायत सूना।
हँस लेते लोग भी देख कर मेरी धुन।

वह : रे वाह! मुझे नही देते तुम पत,
खुद जमा कर दायरा अनगिनत वासनाओं का
बैठते तुम, और मैं तो झाँक भी न सकूँ उसमे,
खड़ा रहूँ बाहर भिक्षुक की तरह।

मैं : तुम भी बोलते हो अरे क्या?
जगरंग मे मुझे खीच कर पकड कर गले से
पटक नही देते क्या तुम्ही बल से?
घुमाते तुम मुझे, होऊँ मैं मानो जल मे मत्स्य!
रखना चाहोगे तुम तो अपने दोनों कर स्वच्छ!
झंकृत करते तुम रसतर्पक काव्यवीणा,
और न आती लाज मेरे मुँह मे जगत्-व्यवहार के
विषय में रखते हुए हीन शब्द;
लगता यह तो बहुत भोंडा।
क्योंकर भूल जाते कि तुम हो
सत्य का मुख?

वह : हिरण्मय पात्र से वह, देखना,
न ढँका जाए कभी किसी तरह।
दारिद्र्य-संवननका व्रत हो तेरा कठिन!

मैं : और नही होना फिर भी निर्घृण या निष्ठुर!
कैसे हो! तुम्हे जिलाया इसकी तृप्ति नही तुम्हे,
अर्पित की आज तक सेवा, खेलाया।
इनमे तो नही निभा लेते तनिक भी न्यून,
और लिख देते रिक्तता इस भाल पर।

वह : मेरी ही नही, औरों की भी करते रहना सेवा।

हु सेवा जता ज करवा बहु लोधी सेवा
ना कोड ए अव रह्या!

ते मुख देखवाना
रहेशे मळी!

हु मुज शरीरनी सौ शिराना
उडाव तु रुधिरशीकर, ने चहेरा
जो बिंदु बिंदु पर अंकित कै अनेरा

ते मुद्रा हशे प्रतिमुखे मुख एकनी ज?
के बेनी? के पछी ?

हु मने न पूछीश चीज
ए एक! छोड मुजने!

ते अळगो रहीश
ससारथी? स्वजनने उर ना वहीश?

हु ते हा अरे स्वजन! ने उर! अक मारा
विश्वभयी दिननिशाभर जे सुनारा,
हा ते ज झोकु मुजने जरी आवर्तामा
प्हेला बधायी गळु मारु दबाववामा

ते तेथी दीसे हलक कठनी खूब खीली!
रिझाववीय दुनिया पडशे हठीली!
कहे शु करीश?

हु कई ना, जरी छु सगव
जेथी हु वचित, हुथी पण एय सव
ना हु भमु जगत पाछळ

ते केम एवु
चाले? भला! जगतनु भरवुय देवु
जे तु थई सकल ते बधु शु न एथी?

हु : हु जेम जेम रीझवु, सरके करेथी,

मैं : सेवा करने गया तो खुद ही ले ली सेवा
न रही अब ये कामनाएँ !

वह : मिल जाएँगे और भी मुख देखने को !

मैं : मेरे शरीरकी सब शिराओ में
उड़ाओ तुम रुधिर-शीकर,
और देख लो बिन्दु-बिन्दु पर अंकित
कितने ही चेहरे अनूठे ।

वह : होगी क्या एक ही मुखकी मुद्रा प्रत्येक मुख पर
या दोकी ? या फिर . . . ?

मैं : पूछो मत मुझे बस चीज यह एक, छोड़ो !

वह : अलग रहोगे संसार से ?
नही बहोगे स्वजनो के हृदय मे ?

मैं : अरे हाँ, स्वजन ! और हृदय !
मेरी गोद में निशदिन विश्रंभ से सोने वाले जो,
जरा आ जाने पर मुझे झपकी,
वे ही रहते है आगे मेरा गला घोंट देने मे ।

वह : तभी तो दीखती है कंठ की हलक खीली खूब !
रिझाना भी होगा हठीली दुनिया को !
कहो, क्या करोगे ?

मैं : कुछ नही; हूँ थोडा सगर्व ।
जिनसे मै वंचित, है मुझसे भी वे सब ।
नही भटकूँगा जग के पीछे ।

वह : चलेगा कैसे ऐसा ? रे भले !
अदा करना जगत का भी कर्ज ।
जो कुछ हो तुम, वह सारा
नहीं है क्या उसकी वजह ?

मैं : मनाता रहूँ मै ज्यो ज्यो,
खिसकता जाता वह हाथ से,

रीझे स्वय क्दी वळी घसी आवो हासे,
दोलायमान दिनरात प्रसादरोषे
पाम्यो र्र्ईक, अह! आखर किंतु हारो
खोवु, सुवार थवु!

ते न धरवी खुमारी!
तु देख के जगत छे थयु कोईनुये?
तो का रिवाय?

हु वहु वाए छु चित्त ह्ये

ते रे ए बधी ममत के ममता तजीने,
साघु अने क्वच–नि स्पृहता सजीने,
तु घूम गुप्तचर जेम भविष्य केरो
ने कोईने तुज हजो नहि वाक्व्हेरो
जो मडपो विविध मानवता लचेल,
जो रग जे निरवधि अहो छे मचेल
जो ऊर्मिपूर वहता करी घूघवाट,
मीठो अने हृदयशत्य तणो थपाट
खाखी तु घोमधखता कई चित्त देख,
हैयानो पानखर कोई रखे उवेख
जो प्रीतिमा स्फुट तिरस्कृति जे थतो ज,
शका अमास पछी ऊगती भाव-बीज
जो अश्रुमा लपकता कई हास्य छाना,
घोळ्या स्मितासव महो गरलो घणाना
वैरो तणा नभउछाळ वृथावलोणा,
जो ततुततु तूटता सुकुमार सोणा
वटोळ देख चगता जरी मौनमायी,
जो शातिनु घडक्तु उर गजनायी
जो काय, कक्र शके डूबता समुद्रे,
आल्स्य सौ विलसता वळी नत्य रुद्रे,

कभी रीझ कर स्वयं धँस आता हौस से;
होता दोलायमान वह दिनरात प्रसाद से रोष से,
पाया कुछ, पर आखिर हार कर खोना,
होना तवाह !

वह : और रखनी खुमारी !
सोच देखो कि हुआ है जगत किसीका भी ?
तब फिर क्यों इतना सताते हो स्वयं को ?

मैं : बहुत समझाता चित्त को मैं भी ।

वह : रे यह सारे हठ और ममता तज कर
सस्ता कौच निस्पृहता का सज कर
घूमते रहो बन कर भविष्य के गुप्तचर,
न हो तुमसे दोष या भेदभाव किसीके प्रति ।
देखा करो मानवता से लचे विविध मंडप,
देखो जो मचे हुए है यहाँ निरवधि रंग,
देखो घहराती बहती ऊर्मिबाढे,
थप्पडे मचला और हृदयशैत्यभरी ।
उग्र धूप में तपते देखो तुम खाकी चित्त,
मत करो उपेक्षा हृदय की किसी पतझड़ की ।
देखो प्रीति मे स्फुट होती ही जो तिरस्कृति,
शंका की अमा के बाद उगती दूज-कला भावना की ।
देखो अश्रु मे छिपे लपकते हास्य,
स्मितासव मे घोले हुए घृणा के गरल ।
नभ तक उछलते वैरों के वृथा बिलोने,
और देखो तंतु-तंतु टूटते सुकुमार स्वप्न ।
देखा करो मौन से उमडते बवडर,
और गर्जना से धड़कता शांति का हृदय ।
देखो कर्म मानो सागर मे डूबते कंकर,
रुद्र नृत्य तेसमे बिल सारे आलस्य,

नैराश्यमां मलपती अनिवार्य आशा,
जो कीर्तिकामणक्मेल तणा तमाशा
दुर्दम्य रहे नीरव उद्धत यातनाओ,
मत्ताप्रमाद वळी मौनविमाननाओ
न थाकी न तर दे तु प्रताप्णानो,
गाडां तु-ए तय रह् ज वहाां शानो ?
येमी विमार जनना वळना उनीये
रातानी रात नीरव्यु रयम गाल धीये ?
ने जाय जा उतरडी यम मासलाना,
रे शा कुटुम्बजन-देह विलाय पाचा !
आ जीर्णशीण विधिवचितनी जुवानी
जा ! आ ! पणे भभूकती थई हाळी छानी
आ जूय एव घसनु गणी अन्य भक्ष्य
जा राष्ट्रनु अवरन ग्रसु ए ज लक्ष्य
आ वर्ग एक ऊचके अह लाहपजा !
आ द्वेषयी प्रगट जो चिर युद्धझझा !
दुर्भिक्षनु डमरु ने स्वर रक्त रेले,
कपाल जा प्रलयताडव घोर खेले
पेलु शम्पु शिशु सूकी स्तनडोटडीए,
त्यक्तानी आ थवी प्रसूति कई घडीए !
को गर्भनो लघुक अकुर जा स्फुरत —
ने एनी ए ज घटमाळ, न क्याई अत
आवे भरी हृदय, घूम तु सप्टिचोक
लोके त्रिकाल लसता कुशलो विशाक
आ विश्वकोप सभरो तुजने प्रपन्न,

नैराश्य मे चमकती अनिवार्य आशा,
और देखो कीर्ति की कामना में फँसे हुए के तमाशे ।
दुर्दम्य रह कर देखो, उद्धत यातनाएँ,
सत्ताप्रमाद और मौन-विमाननाएँ ।
और तुम यदि नही देते किसीको
प्रतारणा का अवसर,
ना-समझ हो, कैसे टिक पाएगी है ऐसी बड़ाई ?
बीमार के दहकते तकिये पर बैठ कर
रातो तक निरखा किया कैसे तप्त भाल ?
उधेड़ जाए यम यदि मांस का लौदा,
पड़ जाते कैसे ढीले कुटुम्बी जनों के शरीर !
विधिवंचित का यह जीर्णशीर्ण यौवन,
देखो, देखो, भभक रही वहाँ कितनी ही
होलियाँ छुपी ।
धँसता यह एक समूह अन्य को मान कर भक्ष्य,
दूसरे को निगल जाऊँ यही इस राष्ट्र का लक्ष्य।
एक वर्ग उठा रहा यहाँ लोह-पंजा !
उस द्वेष मे देखो प्रकट युद्ध के चिर झंझावात !
दुर्भिक्ष का बजता डमरु और रेलता स्वर रक्त को,
देखो, खेल रहे कंकाल घोर प्रलयतांडव !
सहम गया वह शिशु स्तन की सूखी चूची पर;
होगी इस त्यक्ता की प्रसूति किस क्षण !
किसी गर्भ का स्फुरित होता लघु अंकुर—
और वही का वही चक्कर, न कही अंत ।
आँखों मे भर कर हृदय,
घूमो तुम सारे सृष्टिचौक ।
इस लोक मे देखो त्रिकाल-लसते कुशल ।
प्राप्त तुम्हें यह सभर विश्वकोष

तु झूम मुग्ध रसलुब्ध अलि प्रसन्न
हु ना, रे! प्रवचक, मन ललचावी नाख
भठ्ठी विषे अनुभवोनी रह न राख
अते, थवु अमर क्यम करता ज तारे,
एमा मने मफत गदन शीद मारे?
ते जाणु छु तारी शुभ दानत, एकलो तु
टूपा मन दई, चहे जीववा! खरा तु!
हु केमेय रे न छूटवो तु लख्यो ललाटे,
के कल्पीये शकु न तु विण सूनी वाटे
आयुष्यनी भटकवु
ते कहु हुय ए ज
जो जीववु अवध आ भरी पूरी छे ज,
जो जीववानी चळ ना जीरवाय केमे,
आयुष्य, ने, वही जवानु ज छे ज एमे,
तो गा अने शमव कक
हु वळी फसावे?
क वार तो तु अमथा दळणा दळावे
क्यो ओरणु अधवचेथी ज खाई जाय,
ने घटीना पड परस्पर वे घसाय
ते ए तो कसोटी, न गणीश भला! घसारो
काचो बराबर पचावी जवो ज पारो

झूमो इसमे प्रसन्न,
वन कर मुग्ध रसलुब्ध भ्रमर ।

मैं : रे प्रवंचक !
मत डालो मुझे लुभा कर अनुभवों की भट्ठी में,
न बचेगा राख भी अंत मे,
हो जाना है अमर तुम्हे किसी भी तरह,
मुझे क्यो इस मे गरदन मारते मुफ़्त ?

वह : जानता हूँ तुम्हारी शुभ वृत्ति को,
घोट कर मेरा गला, जीना चाहो अकेले !
पक्के हो !

मैं : नहीं टलोगे तुम इस भाग्य से किसी प्रकार
या कल्पना भी नही कर पाता कि होगा
तुम्हारे विना जीवन की सूनी राह मे भटकना ।

वह : कहता वही मै भी ।
जीना है यदि, है पूरी भरी अवधि,
और यदि न हो सहन कैसे भी जीने की खुजली,
जीवन को यदि
वह जाना है यो ही,
तो, गाओ और शमित करो, कुछ ।

मैं : फिरसे फँसाओगे ?
कितनी हो वार तो तुम बिलावजह
पिसवाते पीसना
बीच मे खा जाता पीसने को कोई
और चक्कीके दोनो पाट
घिसते रहते परस्पर ।

वह : यह तो कसौटी है;
मत मान लेना भला, इसे घिसाई;
पचा जाना है यह तो कच्चा पारा ।

का आपी कौवत करे बस मस्त राता,
रवे रवे नीकळरे सहु फूटी का तो
छोने पड्या पथ विषे जीवलेण विघ्न,
रे खेलवो ज बस दाव ! न कम्पते झ ।
ले, जाउ

हु ना ! मिलनबोल विना रवे जा !
ते क्यारे प्रसन्नमन प्रेरु हु तेम तेम
उल्लासभेर हसते मुख ते लख्ये जा,
तु प्रेमपत्र लखतो बस होय एम

२०-८-१९४४

या तो देकर ताकत
करेगा रक्तिम मस्त,
या तो फूट निकलेगा वह रोम-रोम ।
भले ही पड़े हों पथ में घातक विघ्न,
रे खेल देना ही दाँव! 'न कम्पते ज्ञः ।'
अच्छा तो, जाऊँ ।

मैं : ना, मत जाओ बिना किये वादा—
बिना कहे मिलन-बोल !

वह : प्रेरित करूँ मैं जब कभी प्रसन्नमन,
लिखते जाओ उल्लास से हँसती सूरत
ज्यों लिख रहे हो प्रेमपत्र!

२०-८-१९४४

‘ वसंतवर्षा ’से

परोढियु

में भूत भविष्य भणी धर्यु,
अनुभव्यु स्वर्गीय हृदय–परोढियु
ने भूत प्रति मट्यु भयुं,
जागी ऊठया स्वप्ना पडया जे सुप्त वाळी सोढियु
माळाभर्यां पंखी तणा कलरव महीं
गयमत्त वसुधरानु गूढ सर्जनहार–
अमियल आमनो द्युतिभर विशद उल्लास–
गुज्या करे, उरतन्त्रीने छेडया वगर छोडे नही
३१-१२-१९५३

प्रत्यूष

मैंने मुख भविष्य की ओर किया,
अनुभव किया स्वर्गीय हृदयप्रभात का ।
और अतीत पर भी एक दृष्टि फेर ली,
जग उठे स्वप्न
सोये थे जो लम्बी तान कर ।

नीड़ो भरे पंछियों के कलरव मे
गंधमत्त वसुंधरा का गूढ सर्जन-हास,—
अमिय नभ का द्युतिभरा विशद उल्लास—
गूंजता रहता
— नहीं छोड़ता
उरतंत्री को छेड़े बिना ।

३१-१२-१९५२

वगलानी पाखो

नभे हारवध वगलानी पाखो,
ए तो चोरी लई जाय मारी आखो

काळाकाळा वादळनी छाई नभे छाया,
तरे एमा साज-तेज-भरी श्वेत काया
हळवेथी जाय छे लगाडी मने माया

एने कोई तो जरीक रोकी राखो
ए तो चोरी लई जाय मारी आखो
नभे हारवध वगलानी पाखो

२५-९-१९४७

बगुलों के पंख

नभ में पाँती-बँधे बगुलो के पंख,
चुराये लिये जातीं वे मेरी आँखे ।
कजरारे बादलों की छायी नभ छाया,
तैरती साँझ की सतेज श्वेत काया ।
हौले हौले जाती मुझे बाँध निज माया से ।
उसे कोई तनिक रोक रक्खो ।
वह तो चुराये लिए जाती मेरी आँखे
नभ मे पाँती-बँधी बगुलों की पाँखे ।

२५-९-१९४७

डाळी भरेलो तडको

मैं तो डाळी भरेलो दीठो श्रावणनो तडको,
एने शामा हु सघरी लउ ?
एने शामा हु सभरी लउ ?
हाली पडशे अदेखी हमणा ओ वादळी,
ढोळी र्‍हेशे वधे श्याम एनो छायडी,
आछा सरवडे तडको जशे गळी,
एने शामा हु सभरी लउ ?
वर्षाना हैयानी ऊघड्यो उमळको
एने हैयामा हु भरी लउ
डाळीभरेलो पैलो श्रावणना तडका
एने हैयामा सघरी लउ

९-९-१९५०

डालीभरी धूप

मैंने तो डालीभरी देखी सावन की धूप,
उसे मैं किसमे भर लूँ ?
सरक आयेगी अभी वह ईर्ष्यालु बदरी,
फैलायेगी सब जगह अपनी काली छाया,
हलकी बौछार से निगल लेगी धूप,
उसे मैं किसमे भर लूँ ?
वर्षा के हृदय की खुल गई उमंग,
उसे मैं हृदयमे भर लूँ।
डालीभरी वह सावन की धूप,
उसे मैं हृदय मे भर लूँ।

९-९-१९५०

क्यारनी बोले छे कोकिला

ऊडे न ऊघ मारी सभळाये शोर ना,
क्यारनी बोले छे कोकिला
वर्षाना मेहभीज्या वहेला पहोरना
क्यारनी बोले छे कोकिला

ऊठ रे ओ चित्त, तने शी रीते जगाडीए ?
उरना एका तनी आवा ते वाडीए
घेरी सौरभभरी सपनानी डाळीए
क्यारनी बोले छे कोकिला

पूवमा उषाना जरी पलके छे पोपचा,
सुषमाथी दिशदिशना अगअग जो लच्या !
रगनी उजाणीए ओ मूगा कुसुमो मच्या !
क्यारनी बोले छे कोकिला

विश्वना सगीतनु ऊमटचु छे मस्त पूर,
आखो घेराय मारी सूणु न सूणु सूर
चेतनने साद देती रसघेली दूर दूर
क्यारनी बोले छे कोकिला

वपाना मेहभीज्या वहेला परोढना
ऊडे न ऊध, पडे काने कलशोर ना,
क्यारनी बोले छे कोकिला

६-९-१९५०

कबकी बोल रही है कोकिला

टूटे ना नोद मेरी, सुन पड़े शोर नहो
कबकी बोल रही है कोकिला।
वर्षा के मेहभोगे पहले प्रहर मे
कबकी बोल रही है कोकिला।

उठ रे ओ चित्त तुझे किस तरह जगाये?
उर की एकान्त इस अमराई में
गहरी सौरभभरी सपने की डाली पर
कबकी बोल रही है कोकिला।

पूर्व में ऊषा की तनिक हिलती है पलकें
सुषमा से दसो दिशा के अंग है भरे भरे!
रंग के उत्सव मे वे गूंगे कुसुम लीन हुए!
कबकी बोल रही है कोकिला।

विश्व के संगीत की आयी है मस्त बाढ़
आँखें उनीदी मेरी सुनूँ ना सुनूँ मैं सुर।
चेतन को पुकारती रसबावरी दूर प्रचुर
कबकी बोल रही है कोकिला।

वर्षा के मेहभोगे प्रत्यूष मे
टूटे ना नोद, सुन पड़े कलनाद ना,
कबकी बोल रही है कोकिला।

२–९–१९५०

પાનખર

ઝરમર ઝરે,
ખરખર ખરે
પર્ણ આ પાનખરે ક્ષિતિ પરે
પવન ના મૂકે દોટ દડબડ !
પાદડાં હસી પડે ખડખડ
અગવળગાડ હોય શું લાગ્યો,
જ્હોયી તહીં જાય એ ભાગ્યા
ઘડીમાં હૂહૂ કરી સૂસવ,
વૃક્ષના રસો રહ્યા સૂસવે
નીચવ્યા તરુન દેહ હાડરા,
ઘટા ગઈ પ્રગટ થયા માળખા
નગ્ન એ શાખપ્રશાખા ઘેરા
ઉઝરડા ચોદેવીના ચ્હેરા
ઉપર દે તીણા
તીવ્રસ્વર બજ પ્રકૃતિની વીણા
વ્યોમમાં પીત પાણ્ડુર રવિ
નહિ તાપ યા નહિ તેજ એવો છવિ
શિશિર ના પીત શ્યામ અહ ખરે !
અહર્નિશ અવિરત ઝરમર ઝરે
પાનખર-પર્ણો ખરખર ખરે
૧૯ ૧ ૧૯૪૮

पतझर

झरते हैं झरझर
खिरते हैं खरखर
पर्ण ये पतझर में क्षिति पर,
पवन लगाता दौड़ दड़वड़!
पत्ते हँस पड़ते खड़खड़ ।
भूत सवार हुआ हो जैसे उस पर
यहाँसे वहाँ भागता रहता है ।
क्षण में सन् सन् सनसनाता,
वृक्षों के रस को सोख लेता ।
हड्डियाँ निकल आई तरु की देह पर;
हरित छटा गई
उभर आया कंकाल,
नाखून ये शाखा-प्रशाखाओं के
द्यौदेवी के चेहरे पर
तीक्ष्णता से भरते है खरोंच ।
तीव्र स्वर मे बजती है प्रकृति की वीणा ।
व्योम मे पीत पाण्डुर रवि,
नही अधिक गर्मी,
नहीं अधिक तेज ऐसी छवि;
शिशिर कैसे शीत श्वास भरती है!
अहर्निश अविरत झर झर झरते हैं
पतझर के पत्ते खर खर खिरते हैं ।

२६-२-१९४९

कविनु मृत्यु

[डिलन टामसना मत्यु प्रसगे]

कविनु मृत्यु ! पत्रोमा समाचारो जगतना,
कई क्लेशो कई द्वेषो तणा, मतना ममतना
बधा वच्चे फक्त वे पक्ति उच्चरतो
' कविनु मृत्यु ' मूगो ने महाकालाहले सरतो
जगतनी सरणीय अभिसरतो,
न जाणे भाग्यमाथी शु गयु !
वा शु रह्यु ?
पृथ्वी तणी माटी घडी धबकी गई !
तारलानी तेजलूमोने निचावी तेज पी झबकी गई
कविनु हृदय
जाणे सदय
पखीअर्यु आकाश,
शिशुनु हास,
के शरदना काशपुष्प तणो धवल उल्लास
कविनु हृदय ते तो धवल ऊर्मितेज,
सरल निर्व्याज निमळ हज,
सप्तरगोनी कमानो डोकिया करती तही,
अप्तरगी भावना-परीओ सुभग तरती मही
किल्लोलतु कविहृदय सहसा मौनअक श्वसी रह्यु
हवायी आछुक आच्छादन धरा पर हूफनु मकी गयु
११ १३-११-१९५३

कवि की मृत्यु

[डिलन टॉमस की मृत्यु पर]

कवि की मृत्यु ! पत्रों मे समाचार
जगत के, कितने क्लेशों के, कितने द्वेषो के,
कितने मत के दूराग्रह के ।
इन सबके बीच
सिर्फ दो पंक्तियाँ कहती है–'कवि की मृत्यु'
—गूँगी और महा कोलाहल मे फिसलती ।
जगत की सरणी चलती रहती है; न जाने :
भाग्य मे से क्या गया! या क्या रहा?

पृथ्वी की मिट्टी कुछ क्षण धड़क गई ।
तारों के तेज-पुंज गुच्छों को निचोड़ कर
प्रकाश पी कौध गई ।

कवि का हृदय
मानो सदय
पक्षी भरा आकाश,
शिशु का हास,
या शरद के काश पुष्प का धवल उल्लास ।
कवि का हृदय
यह तो है धवल ऊर्मितेज,
सरल निर्व्याज निर्मल स्नेह;
सप्तरंगी मेहरावे झाँकती है वहाँ,
अप्तरंगी भावना-परियाँ सुभग तैरती है वहाँ ।
कल्लोल करता कविहृदय सहसा मौन अंक मे साँस लेता ।
हवा से भी पतला आच्छादन धरा पर
ऊष्मा का छोड़ जाता ।

२२,२३–११–'५३

कविनु मृत्यु

[डिलन टॉमसना मृत्यु प्रसंग]

कविनु मृत्यु ! पत्नोमां समाचारो जगतना,
कई क्लेशो कई द्वेषो तणा, मतना ममतना
बधा वच्चे फकत बे पंक्ति उच्चरती
'कविनु मृत्यु' मूगी न महाकोलाहले सरती
जगतनी सरणीय अभिसरती,
न जाणे भाग्यमाथी शु गयु !
वा शु रह्यु ?
पृथ्वी तणी माटी घडी धबकी गई !
तारलानी तेजलूमोन निचोवी तेज पी झबकी गई
कविनु हृदय
जाणे सदय
पखीअयुं आकाश,
शिशुनु हास,
के शरदना काशपुष्प तणो धवल उल्लास
कविनु हृदय ते तो धवल ऊर्मितेज,
सरल निर्व्याज निमळ हज,
सप्तरगोनी कमानो डोकिया करती तही,
अप्तरगी भावना परीओ सुभग तरती मही
किल्लोलतु कविहृदय सहसा मौनअक श्वसी रह्यु
हवाथी आछुक आच्छादन धरा पर हूफनु मकी गयु
११ १३-११-१९५३

कवि की मृत्यु

[डिलन टॉमस की मृत्यु पर]

कवि की मृत्यु ! पत्रों मे समाचार
जगत के, कितने क्लेशो के, कितने द्वेषों के,
कितने मत के दूराग्रह के ।
इन सबके बीच
सिर्फ दो पंक्तियाँ कहती है– ‘ कवि की मृत्यु ’
—गूंगी और महा कोलाहल मे फिसलती ।

जगत की सरणी चलती रहती है; न जाने :
भाग्य मे से क्या गया ! या क्या रहा ?

पृथ्वी की मिट्टी कुछ क्षण धड़क गई ।
तारों के तेज-पुंज गुच्छों को निचोड़ कर
प्रकाश पी कौध गई ।

कवि का हृदय
मानो सदय
पक्षी भरा आकाश,
शिशु का हास,
या शरद के काश पुष्प का धवल उल्लास ।
कवि का हृदय
यह तो है धवल ऊर्मितेज,
सरल निर्व्याज निर्मल स्नेह;
सप्तरंगी मेहराबे झाँकती है वहाँ,
अप्तरंगी भावना-परियाँ सुभग तैरती है वहाँ ।
कल्लोल करता कविहृदय सहसा मौन अंक मे साँस लेता ।
हवा से भी पतला आच्छादन धरा पर
ऊष्मा का छोड़ जाता ।

११,१३–११–’५३

गळता ढग अंधकारना

गळता ढग अंधकारना,
धरता आकृति ते क्रमेक्रमे
क्षितिजे जळमाथी ऊपसे
अणजाण्या कई द्वीप-डुंगरो

नमणी घननील झूमती
वनलक्ष्मी हसता परोडमां
पडखां पसवारता रवि,
चळके स्वर्णनी रोमराजि त्यां

एस० एस० चुसान
१२-१२-१९५२

गलते ढेर अंधकार के

गलते ढेर अंधकार के :
धारण करते हैं आकृति क्रम-क्रम से ।
क्षितिज पर जल से उभर आते हैं
अजनवी कुछ द्वीप-डूँगर ।
सुन्दर धननील झूमती है
वनलक्ष्मी मुसकाते प्रभात मे ।
पहलू सहलाता है रवि,
चमकतो है स्वर्ण की रोमराजि इतनेमे ।

एस. एस. चुसान
१२-१२-१९५२

आखो धराती न

नवा नवा लोक, नवीन देशा,
भाषा नवी, ने वळी नव्य वेशो
हु आज आही, वळी काल तो कया ?
छे कोण केवा स्वजनो, जवु ज्या ?
अफाट विस्तार सरे धराना,
आखो धराती न, विराट पोता

हु सचरु छु सहु आ प्रदेशमा
के हु मही सव थता पसार ए ?
आ चित्त ने ए समरूप शा सुहे !—

आकार धारे मुज चित्त ए बृहत्
प्रदेशना, वक्षनी कुज थै झूले,
गाढा वनानी गहनाधकारे
भरीभरी शाति मही जई रचे,
माळो घडी बे क्षण माही चचल
ढ्होळायला वेगथी दोडतु धसे
नदी तणी नीर सपाटीए सरी
उत्तुग शृगो गिरिना सुरेख
वाते वळया व्योमनी गूढ दीप्तिथी,
प्होची जई त्या मुज चित्त पीए
ए मातना स्तन्य शी मौनगोठडी
थै मेघमाला गिरि वीटतु, वदो
ज्वालामुखोना मुख शु भभूके
के को महासागरना प्रचड
कल्लोल-गु ताडवतालमा मचे
लसे प्रसन्नोर्मि सरोवरे वा

आँखें नही भरती

नये–नये लोग, नये देश,
नयी भाषा, और नये वेश भी ।
मैं आज यहाँ और फिर कल कहाँ?
है कौन कैसे स्वजन जहाँ जाना है?
अपार विस्तार सरकते हैं धरा के;
आँखें नही भरती विराट पीते ।

मैं विहरता हूँ इन सभी प्रदेशो मे
या गुजरते है मुझमें से ये सब?
यह चित्त और वे, कैसे समरूप सुहाते है!

आकार धारण करता है मेरा चित्त उन बृहत् प्रदेशो का,
वृक्ष का कुंज बन कर झूलता है,
घने अरण्यो के गहन अंधकार मे
लबालब शांति में जाकर रचता है
नीड दो क्षण; और क्षणार्ध मे चंचल क्षुब्ध
वेग से दौड़ धँसता है
नदी की सतह पर ।
उत्तुग गिरि के सुडौल शृंग
बातें करते लगते है व्योम की गूढ दीप्ति से,
पहुँच वहाँ पीता है मेरा चित्त
माँ के स्तन्य-सी मौन गोष्ठी को ।
बनकर मेघमाला आवृत्त करता गिरि को,
कभी धधकता है ज्वालामुखी के मुँह-सा,
या किसी महासमुद्र के प्रचंड
तांडव की ताल मे कल्लोल–सा मग्न हो जाता है ।
या फिर लसता है प्रसन्नोर्मि सरोवर पर ।

और काल मे भी सरक जाता है क्षणेक मे
कितनी शताब्दियो से क्रीड़ा करता भटकता है ।
पड़े है यहाँ ये इतिहास शेष
कला लसती है वहाँ कमनीय,
हँस रहे ये खड़े खँडहर मनुष्य के हर यत्न पर
फिर भी रचे जाते है त्वरा से वहाँ, देखो,
कुछ नये-नये इतिहास–हर्म्य ।

घड़ी में यहाँ, घड़ी मे वहाँ पहुँच कर
इस देश-काल के कुंज में
चित्त कैसी तो आँखमिचौनी खेला करता है अनंत से !

जहाँ जहाँ जाता, होती है भेंट
उसकी मनुज से ।
सर्वत्र ही वह पाता है मनुष्य के हास्य, विलाप, आशा –
अहो कैसी है मानुष दिव्यता यह !
शोभित हो रही है यह दिव्य मनुष्यता !
उस महाविभूति का मै करूँ साक्षात्कार ।

अफाट विस्तार सरकते है धरा के,
भर सकती है कैसे आँखें यह प्रसन्नता पीते ?
मै आज यहाँ और कल फिर कहाँ ?
है सभी मेरे स्वजन, जाना है जहाँ ।
नहीं है नये ये लोग, नये नही देश,
नहीं है नयी भाषा या नया वेश ।

एस. एस. चुसान
१६–१२–१९५३

निशाळनो समय थयो छे तेथी पणे पेली
कन्या त्वराभरी चाली जाय, अगाडी नमेली
हाथमा झालेली पाठ्यपोथीओना भार थकी

केवो पुल !
केवो ते सुरभीपूत !
केवो वा हवे खेडूत !
केवु के कौमारफूल !
तें तो वधु मत्युमुखे होमी दीधु हतु छकी
शक्तिछाके, आजे हवे शाने पछी ए ज सव,
भाळवा करे ? ते सौंय तारा तोडवाने गव
जे विज्ञाननी सहायथी तें तेनो कर्यो नाश
तेनी ज को गूढ प्रक्रिया थकी थता प्रकाश
अथवा ते सदाभीरु आख तारी झख्या करे
नाशिताने ? तनेये ते अतरात्मा डख्या करे !
तो तो कोई भविष्यमा तारे काज आशा हजी

प्रणाश वटावी ते तो चिरतन रूप सजी
न मर्या शा पीछो तारो लेशे सदाकाळ माटे
कोण छे एवो जे भूसी शके अही पृथ्वीपाटे
अमूत ते मूर्तिओने, अनष्ट ते नाशितोने ?
अग्यस्त्र तु शक्तिमत्त वरसाव्या करे छोने !

कन्या पेली चाली जाय असशय पदे, एना
दृढ बीडचा होठ बोले नीरव के छोडशे ना
स्वीकार्युं पोते जे महाकर्तव्य पडे शीखोने

और स्कूल का समय हुआ है
इसलिए वहाँ वह लड़की तेजी से चली जा रही है,
आगे की ओर झुकी हुई
हाथ मे थामी हुई पाठ्यपुस्तको के भार से ।

कैसा पुल!
कैसा वह सुरभीपूत!
या कैसा अव किसान!
या कैसा कौमार-पुष्प!
तूने तो सब मृत्युमुख मे होमा था छक कर
शक्ति-मद मे;
आज क्यों अव
वह सव देखने की चाह करता है?
वे सभी तेरा गर्व तोडने को,
जिस विज्ञान की सहायता से किया उनका नाश
उसकी ही किसी गूढ प्रक्रिया से होते है प्रकट ।
अथवा वह सदा भीरु तेरी आँख तरसती है
नाशितों के लिए?
तुझे भी अंतरात्मा तेरी कोसती है क्या?
तव तो भविष्य मे तेरे लिए अब भी है कुछ आशा ।

प्रणाश पार कर वे तो चिरंतन रूप लेकर
अ-मृत से तेरा पीछा करेगे सदा के लिए ।
कौन है ऐसा जो मिटा सके यहाँ इस पृथ्वी पट पर
अमूर्त इन मूर्तियों को? अनष्ट उन नाशितो को?
तू शक्तिमत्त अग्न्यस्त्र की वर्षा भले ही करे!

चली जाती है वह कन्या असंशय पद से,
उसके दृढवंद ओठ बोलते है नीरव
कि छोड़ेगी नही वह महाकर्तव्य, जो स्वीकारा है:

शीखवशे सौने सहेवानु, — जेम जन्म देने
बाळने माताओ करे अनर्गळ वेदना ने
यातनाओ सहा, हा! तेम ज के कं वहाने
सहेवानु शीखवशे शीखीने स्वय, वळी
छोडशे के अधिकार माता मानवता तणो
थवानो प्रकृतिदत्त सदानो मळ्यो जे ऐने ?

अने पेलो खेडु – ने वळद मूगो साथे छेने
तेय–श्रद्धाशब्द पूरे सृष्टिना हृदय माही
जे क वसे मानवीओ, साथी पशुओ वा आही,
ते सवनु पेटपूर पूरु पाडशु ज अन्न
असे, तमे बेसो शात लोहीए थई प्रसन्न

अने पेलो पुल वहे छे के बे शेरी ज नहो,
आडशा जे देशदेश जातिजाति वच्चे रही
तेने साधनारो सेतु बनो हु रहीश, साथे
सामसामा हृदयोने भेटीश हु एक बाथे

भले अमानुपितानी मनुष्ये बतावी सीमा,
—नागासाकी , हीरोशीमा —
अते तो मनुष्य सामे अमानुपिता ज थाकी
हीरोशीमा नागासाकी

३० ३ १९४६

खुद सीख कर सभीको सिखायेगी सहना,—
ज्यों जन्म देकर बालक को
माताएँ करती है सहन
अनर्गल वेदना और यातनाएँ,
हाँ! वैसी ही किसी न किसी बहाने
सिखायेगी, सहना सीख कर स्वयं
और छोड़ेगी क्या मनुष्यत्व की माँ होने का अधिकार
प्रकृत्तिदत्त, सदा का जो उसे मिला?

और वह किसान और गूंगा बैल
वह भी श्रद्धा-शब्द भरता है सृष्टि के हृदय मे;
जो कोई वसता है यहाँ मनुष्य या साथी पशु
उन सभी के लिए भरपेट अन्न जुटायेंगे हम,
तुम वैठो शान्त स्वस्त से हो प्रसन्न।

और वह पुल कहता है कि सिर्फ दो गलियो की ही नहीं,
दीवारे जो देश-देश या जाति-जाति के वीच है—
उनको जोड़नेवाला सेतु वनकर रहूँगा मै,
साथ ही आमने-सामने के हृदयों का आलिगन करूँगा मै।

भले ही अमानुषिता की मनुष्यने दिखाई सीमा,
—नागासाकी . . . —हीरोशीमा . . . —
अंत मे तो मनुष्य के आगे अमानुषिता ही थकी।
हीरोशीमा . . . नागासाकी . . .

३०-३-१९४६

जीण जगत

मने मुर्दांनो वास आवे !
सभामा समितिमा घणा पचमा, ज्या
नवा निर्माणनी वातो करे जुनवाणी जडबा,
एक हानो पूठे ज्या चली वणझारमा हा,
–मळे कयाक ज अरे मर्दानगीनो ना,
परतु एहने धूत्कारथी थथरावना करता
विचरता मद नित्ये,
श्वास लेता अधसत्ये ने असत्ये,
जरठ हो क्याक-क्याक जुवान खासा,
निहाळी भाविने खाता बगासा,–
दई भरडो मडानो सत्यने गूगळावना करता
मने निशदिन वुझायेला न्लोनी वास आवे !

मने मुर्दांनो वू सतावे !
भलेने फूलथी ढकायला रूपे विहरता,
शवो समाजना शीग्नरेथी शिखरे विचरता !
जगलोमा काष्ठ तो खूटघा नथी,
खुरशीओ घडाये जाय छे क अणक्यो
वागमा पुष्पोय खीत्ये जाय छे,
न डोक गणगाराय छे,
अचेतननी आरतीमा चेतना होमाय छे
ह रुद्र, ह शिव ! सद्य ऊठा,

जीर्ण जगत

मुझे मुर्दोंकी बू आती है!
सभा में, समिति मे, अनेक पंचों में,
जहाँ नये निर्माण की बातें करते है दकियानूस. जबड़े.
एक 'हाँ' के पीछे चलती है जहाँ कतार में 'हाँ'
—मिलती है क्वचित् ही मर्दानगी की 'ना,'—
किन्तु उसको दुतकार से डराने की चेष्टा वे करते,
मंद जो चलते है नित्य,
साँस लेते है अर्धसत्य में, असत्य में,
प्रौढ है कहीं तो है कही जवान खासे,
देख भावी को लेते है जँभाई
लेकर पक्की लपेट मे सख्त
सत्य का दम घोटने की चेष्टा करते,
बुझे दिलों की मुझे दिन रात आती है बू!

मुझे मुर्दो की बू सताती है!
भले ही फूलों से ढँके रूप में विहरते हों,
शव विचरते है समाज के शिखर से शिखर पर।
जंगलो में काठ की तो कमी नही है,
कुर्सियाँ बनती जाती है कितनी ही अनगिनत,
बाग मे फूल भी खिलते जाते है
और गले के शृंगार बनते जाते हैं,
अचेतन की आरती मे
चेतना की आहुति दी जाती है।

हे शिव, हे रुद्र
उठो सद्य

हाथ डमरु लई जग आ जीणनी उपर त्रुठो !
जे सडघु, मरवा पडयु ते सवनु खातर करो,
नवा रोपे नवा मोले करो भोम हरीभरी,
भूतना आ मृत्युपुजेथी नवा मर्दो जगावो,
चैतयवता अट्टहासे जग हसावो !

२३-१०-१९४८

नानानी मोटाई

मोटाओनी अल्पता जोई थाक्या,
नानानी मोटाई जाई जीवु छु

६ ४ १९४९

डमरू हाथ में लेकर इस जीर्ण जग पर
कृपा करो।
जो सड़ गया है,
मरणासन्न है –
उन सभो की खाद करके
नये पौधों से, नयी फसल से धरती हरियाली कर दो,
भूत के इस मृत्युपुंज से नये मर्दों को जगाओ,
चेतनाभरे अट्टहास से जगको हँसाओ।
२३–१०–१९४८

छोटों की बडाई

तंग आ गया हूँ
बड़ो की अल्पता से,
जी रहा हूँ
देख कर छोटो की बड़ाई।
६–४–१९४९

आ दुनियानी महाप्रजाओ

हु एक रमकडु सिंगापुरथी साथे लेतो आव्यो छु
कागळपटीमा वे बळिया पूरो बगलमा लाव्यो छु
एके भूरी, लाल वीजाए चड्डी टूकी चडावी छे,
बेय ऊभा पैंडा पर वाय चडावी, नीचे चावी छे
चावी दीधी मूकचा छुट्टा, तरत शरू बाथबाथी
'ले तु !' 'तु लेतो जा !'—चाले हस्ये जाओ अचवायी
हमणा लाल हठ्यो, त्या तो ओ भूरो लोथ थयो दीसे,
जेर करी झीके मुक्का, मस्तक भटकाय महा रीसे
पाछळ खसता, आगळ धसता, आखर तो र्‌हे त्याना त्या
चावी ऊतर्ये, हाथ वीझता फोगट, डोले ऊभा ज्या
आ दुनियानी महाप्रजाओनी चावी न शु ऊतरशे ?
के आने कळ फरी दईए त्यम तुय, प्रभु, दीधा करशे ?
१६–५–१९५३

दुनिया की ये महाप्रजाएँ

मै एक खिलौना सिगापुर से साथमे लेता आया हूँ ।
कागज के बक्स मे कर बंद दो पहलवानों को
बगल में दाब लाया हूँ ।
एकने नीली, दूसरेने लाल निकर पहनी है,
दोनो खड़े पहियो पर, बाँहे चढाये, नीचे चाबी है ।
छोड़ दिया चाबी देकर शुरू हो गई मुठभेड़ तुरन्त ।
'ले तू' 'ले तू भी'—चलता । हँसते रहे अचंभे से ।
अभी लाल पीछे हटा, इतने मे नीला
थकान से चूर दिखाई पड़ा ।
बड़े जोर से देते घूंसा, सिर टकराते बड़े क्रोध मे,
पीछे हटते आगे बढते, आखिर वही के वही रहते ।
चाबी उतरते ही वृथा हाथ हिलाते,
डगमगाते खड़े जहाँके तहाँ ।
इस संसार की महाप्रजाओं की चाबी क्या नही उतरेगी?
चाबी भरते ज्यो हम इनमे,
प्रभु तुम भरते रहोगे उनमे ?

१६-५-१९५३

दे वरदान एटलु

स्वतन्त्रता, दे वरदान एटलु
न हीनसंकल्प हजो कदी मन,
हैयु कदीये न हजो हताश,
ने ऊर्ध्वज्वाळे अम सव कर्म
रहो सदा प्रज्वळी, ना अधोमुख,
वाणी न निष्कारण हो कठोर,
रूंधाय दृष्टि नहि मोहधुम्मसे,
ने आसमानी अमी ना सुकाय,
न भोमका गाय वसूकी शी हो!
वाणिज्यमा वास वसत लक्ष्मी,
ते ना निमन्त्रे निज नाश स्वार्थथी
स्त्रीओ वटावे निज स्त्रीत्व ना कदी
बने युवानो न अकालवृद्ध,
विलाय ना शैशवना शुचि स्मितो,
धुरा वहे जे जनतानी अग्रणी,
ते पगने हा सहुथीय छेल्ला,
न ब्राह्मणो — सौम्य विचारका ते
सत्ता तणा रे न पुरोहितो बने
अने थईने कवि मागु एटलु —
ना तु अमारा कविवृंदने कदी
झूलन्त था पर पिंजरना
बनावने पापट चाटु वाचाळ
स्वतन्त्रता, दे वरदान एटलु

१-८-१९४२

वर दे इतना

स्वतंत्रता, तू वर दे इतना :
मन न हो कभी हीन-संकल्प,
हृदय न हो कभी हताश;
और हमारे सब कर्म
सदा प्रज्वलित रहे ऊर्ध्वज्वाला मे,
अधोमुख न हो;
निष्कारण कठोर न हो वाणी;
अवरुद्ध न हो जाय दृष्टि मोह के कोहरे मे;
और सूख न जाये आँख का अमृत;
धरती न हो दूध न देनेवाली गाय-सी !
वाणिज्य मे निवास करती है लक्ष्मी,
वह अपने स्वार्थ से नाश का न्यौता न दे !
स्त्रियाँ अपने स्त्रीत्व को भुनाएँ न कभी,
नवयुवक कभी असमय वृद्ध न हों,
मुरझाये न शैशव के शुचि स्मित;
धुरा वहन करते है जो जनता की
वे अग्रगामी पंक्ति मे हो सब के पीछे;
और ब्राह्मण,—सौम्य विचारक,
सत्ता के पुरोहित न बने ।
और कवि होकर माँगता हूँ इतना :
हमारे कविवृंद को कभी
किसीके हाथ मे झूलनेवाले पिजरे के तोते न बनाना
जो सिर्फ खुशामद की बोली बोलते है ।
स्वतंत्रता, तू वर दे इतना ।

१५-८-१९५२

नण अग्निनी अगुली —

[गाधीजाना हत्या प्रसग]

श्रण अग्निनो अगुली वडे
प्रभु, चूटी लीघु प्राणपुष्प तें
वर एवी विभूति स्पर्शवा
न घटे अग्नियी ओछु शुद्ध क

माच १९४८

तीन अग्नि की अँगुलियाँ

[गाधीजी की हत्या के प्रसग पर]

तीन अग्नि की अँगुलियों से
हे प्रभु, चुन लिया तूने
प्राणों का यह पुष्प ।
ऐसी वर विभूति को छूने के लिए,
चल सकता नही कुछ
अग्नि से कम शुद्ध ।

मार्च, १९४८

जुए ते रुए

जुए ते रुए, भाई जुए ते रुए,
एनी आखलडी अमथी चूए
जुए ते

उघाडी आखे जेने जरीके न सूझे,
सुखियो ए रातदिन सूए
जुए ते

देखे तेन तो जोवो खेल खलक्नो, ने
सळग्या करवानु रूवे रूवे
जुए ते

आखोने कूवे काई न्होये अखूट पाणी,
जगना ए डाघ शेणे धुए ?
जुए ते

आवे क्यारेक कयाथी अणसारा सतोना, ने
एनी एक आख रुए ने बीजी लुए
जुए ते

११-२-१९५१

जो देखे सो रोये

जो देखे सो रोये रे भाई, देखे जो सो रोये,
उसकी ही आँखे नित झर झर ।
खुले नयन, देखे न किन्तु कुछ
वही रात-दिन सुख से सोये ।
देखे, उसको खेल खलक का लखना
और रोम-रोम जलते रहना ।
आँख-कूप मे कब अनन्त जल,
जग के दाग कहाँ से धोये ?
जब तब पा इंगित संतो के
एक आँख वह रोये
और दूसरी पोछे ।

११-१-१९५१

सर्जन

धरा थरर ध्रजती प्रखर वज्र शा त्राटके !
चळे गगनसूय शु ? अचलशग डोली रहे !
फरे पडखु कूम, शेष सळक्यो अकाळे शके ?
महाप्रलयवायु धूम्रतमसो वमता वहे !
पून क्षितिजरेख त्या प्रगटतो ! शी अग्निच्छटा !
प्रचड विलसी रहे सतत वह्नि धक्धक थतो
तडित्प्रभ स्फुरे ऊडे कपिलरक्त ज्वालाजटा,
दिगत सुधी अद्रि अग्निरस ऊभराव्ये जतो

वह्यो समय, शात अग्निरस ए थयो ने ठर्यो,
क्रमे गगनमेघधारअभिषेक झीली झीली
थयो मृदुल मत्-स्वरूप, सहसा ऊगी नीसर्यो
अहो लघुक सौम्य अकुर, कळी फूटी ने खीली,
प्रफुल्लदल पुष्प त्या हस्यु हस्यो ज ज्वालामुखी.
हती फक्त आ ज आश, फळी हाश ! बस छु सुखी

१४-१०-१९४७

सर्जन

कॉपती है धरा थर थर
प्रचंड वज्र के आघात से !
गगन का सूर्य चलित होता क्या ?
अचल शृंग हिल उठते !
महा कूर्म करवट ले रहा।
या शेषनाग असमय ही कुलबुलाया है क्या ?
महा प्रलय-वात; वहते धूम्रतमस का वमन करते हुए !
पुनः क्षितिजरेखा प्रकाशित होती
कैसी अग्निच्छटा !
प्रचंड विलसित होता सतत वह्नि धक्-धक्।
तड़ितप्रभा स्फुरित होती उड़ती कपिलरक्त ज्वालाजटा,
दिगंत तक अद्रि अग्नि-रस छलकाये जाता।

बीता समय,
अग्निरस वह हुआ शान्त और गया जम।
क्रमशः गगन मेघधारा के अभिषेक से भीग
हुआ वह मृदुल मृत्-स्वरूप;
सहसा फूट पड़ा लघु सौम्य अंकुर;
कली फूटी और खिली,
प्रफुल्लदल पुष्प हँसा,
हँस उठा ज्वालामुखी भी :
थी मात्र यही आशा, हुई पूर्ण ओह !
बस हूँ सुखी।

१४-१०-१९४७

रडो न मुज मृत्युने !–

[न्हावानु कहेवु सहुने – नथी स्हेलु काई
—जान्युआरी ३०, १९४८]

" रडो न मुज मत्युने ! हरख माय आ छातीमा
न रे !–कयम तमेय तो हरखता न हैया महीं ?
वीधायु उर तेथी केवळ शु रक्तधारा छूटी,
अने नहि शु प्रेमधार ऊछळी जरे के रडो ?
हतु शु बलिदान आ मुज पवित्र पूरु न के ?
अधूरप दोठी शु के मुज अक्षम्य तेथी रडो ?

तमे शु हरखात जो भय धरी भजी भीरुता
अवाक असहाय हु हृदयमा रुधी सत्यने
स्वस्या करत भूतले ? मरणथो छूटचो सत्यने
गळे विपम जे हता कईक काळ डूमो ! थयु
सुणो प्रगट सत्य वर प्रति प्रेम, प्रेम ने प्रेम ज !
हसे ईशु, हसे जुओ सुनतु, सौम्य सतो हसे "

" अमे न रडीए, पिता, मरण आपनु पावन,
कलकमय दैयनु निज रडी रह्या जीवन "
१–२–१९४८

रोओ न मेरी मृत्यु पर

[चाहने को कहना सबसे नहीं है आसान।
— जनवरी ३०, १९४८]

"रोओ न मेरी मृत्यु पर।
हृदय में मेरे समाता नही हर्ष—
तुम भी क्यों हृदय में हर्षित नहीं होते?
बिंध गया उर
इससे क्या केवल रक्तधारा ही फूटी?
प्रेमधारा क्या न उछलती कि
अरे ओ रोते हो?
था नही क्या बलिदान मेरा यह पवित्र पर्याप्त?
अपूर्णता देख क्या कोई मेरी अक्षम्य,
तुम रो रहे हो?

क्या तुम्हे हर्ष होता
यदि मैं भय लिए भीरुता पालता, अवाक्, असहाय
हृदय में सत्य का दम घोंट कर
धरती पर साँस लेता रहता?
सत्य के गल से छुट गई
मृत्यु की विषम घुटन
जो थी कुछ समय की!
सुनो, प्रगट हुआ सत्य:
वैर के प्रति प्रेम, प्रेम और प्रेम ही!
हँसते हैं ईसा, हँसते है सुकरात, सौम्य संत हँसते हैं।"

"हम नही रोते, पिता!
आपकी पावन मृत्यु पर,
रोते है हम तो
अपने कलंकमय दैन्यभरे जीवन पर।"

१-२-१९४८

सुदर्शन

कृष्ण

"सुदर्शन ! थयुं तने कर विषे, करी वेगळी
कुमार-वयनी रसोत्सव रमाडती वांसळी
कदम्बतरुलाल रम्य यमुना तणो ते तट,
थमे शरदपूर्णिमा अमृत, एह वंशीवट
कह्युं हतुं ज वणुए 'अधरथी हवे वेगळी
मने न करशो,–वह हृदय ज्यां तमारं गळी,
अने विरमतुं ज जय जननाय चीधी उर ?
सुदर्शन रमाडशो कर विषे हव निष्ठुर ?
गमे शु वध शीर्पना, हृदय वींधनारी वधु ?'
लीधा विजयपथ, शस्त्र धरी, रथी हैयामधु
ऊभा हु कुरुक्षेत्रमा, ऊभी अढार अक्षौहिणी,
अने न उपयोग काई तव आज ! नी निर्गिनि !"

सुदर्शन

"रह्युं कर विषे कृतान्त सम शस्त्र, तोये कपट्टो
करा न उपयोग थ', न उपयोग ए नु महा !"

२०-८-१९५१

सुदर्शन

कृष्ण : " सुदर्शन !
धारण किया तुझे कर मे,
दूर कर कुमारवय की रसोत्सव की वाँसुरी ।
कदम्बतरु लोल रम्य यमुना का वह तट;
वर्षा करती शरदपूर्णिमा अमृत,
वह वंसीवट ।
कहा ही था वेणु ने :
' अधर से अव दूर मुझे करोगे क्या ?
हृदय वहता है जहाँ गल कर तुम्हारा,
और रुकता अन्य जनो के हृदयो को भी वीध कर।
सुदर्शन को खेलाओगे अव कर मे निष्ठुर ?
पसंद है क्या वध शीर्ष का
हृदय-विधन से भी अधिक ? '
अपनाया विजयपथ
शस्त्र लेकर,
रोक कर हृदय-मधु ।
खडा मै कुरुक्षेत्र मे
खड़ी अठारह अक्षौहिणियाँ;
न उपयोग कुछ तेरा आज !
वाह निर्मिति ! "

सुदर्शन : " रहा कर में कृतान्त-सा शस्त्र,
तव भी कही पर
करते नही उपयोग,
यही क्या नही महान उपयोग ? "

२७-४-१९५१

सुदर्शन

कृष्ण

"सुदर्शन ! धर्युं तने कर विषे, करी वेगळी
कुमार-वयनी रसोत्सव रमाडती वांसळी
कदम्बतरुलाल रम्य यमुना तणो ते तट,
झमे शरदपूर्णिमा अमृत, एह वंसीवट
वह्यु हतुं ज वेणुए 'अधरथी हवे वेगळो
मने शुं करशो,–वहे हृदय ज्यां तमारु गळी,
अने विरमतु ज अन्य जननाय वींधी उर ?
सुदर्शन रमाडशो कर विषे हवे निष्ठुर ?
गमे शु वध दीपनो, हृदय वींधवाथी वधु ?'
लीधो विजयपंथ, शस्त्र धरी, स्पंधी हैयामधुं
ऊभो हुं कुरुक्षेत्रमां, ऊभी अढार अक्षौहिणी,
अने न उपयोग कोई तव आज ! शी निर्मिति !"

सुदर्शन

"रह्यु कर विषे कृतांत सम शस्त्र, तोये कथहां
करो न उपयोग क, न उपयोग ए शुं महा !"

२७-४-१९५१

सुदर्शन

कृष्ण : " सुदर्शन !
धारण किया तुझे कर में,
दूर कर कुमारवय की [illegible] की [illegible]
कदम्बतरु लोल [illegible]
वर्षा करती चन्द्रपूर्णिमा [illegible].
वह वंसीवट ।
कहा ही था वेणु ने :
' अधर से अब दूर मुझे करोगे क्या ?
हृदय बहता है जहाँ [illegible],
और रुकता अन्य जनों के हृदयों को [illegible]
सुदर्शन को खेलाओगे अब कर में [illegible]
पसंद है क्या अब शीर्ष का
हृदय-विधन से भी अधिक ? '
अपनाया विजयपथ
शस्त्र लेकर,
रोक कर हृदय-मधु ।
खड़ा मैं कुरुक्षेत्र में
खड़ी अठारह अक्षौहिणियाँ;
न उपयोग कुछ तेरा आज !
वाह निर्मिति ! "

सुदर्शन : " रहा कर में कृतान्त-सा शस्त्र,
तब भी कही पर
करते नही उपयोग,
यही क्या नही महान उपयोग ? "

२७-४-१९५१

गुरुशिखर

गुरुशिखरनी टोचे ऊभो, श्वसु नरवो हवा,
क्षितिज तटनी पारे स्वप्नप्रदेश तरे नवा
विमल नभने स्पर्शे मारु ललाट समुत्सुक,
अतळ जगना ऊंडाणोनु शमे क्षण कौतुक
जगकलहथी ऊंचेऊंचे अनगल भगमां
गिरिशिखर आ भूमास्पर्शे वसे चिरस्वर्गमां
दिशदिश तणा झंझावातो अहोनिश झूझता,
खडक दृढ आ ऊभो, मारा पगो अह ! धूजता –

" पग तुज भले धूजे, मारा वहत् वरडा मही
तडित सम जो धूजारी ते पसार थई गई
तुजनी अहो जे ऊंचाई ते खरो मुज उच्चता,
चढी तुज खभे तारी आंखे लहु सहु हु मता
स्वरग अहीथी तारे मारे परु कहु केटलु ?
मदुल कर तु लवावी रहे अहो थकी एटलु "

१२-६-१९५१

गुरुशिखर

गुरुशिखर की चोटी पर खड़ा
साँस मे भरता हूँ स्वच्छ हवा,
क्षितिजतट के उस पार
तैर रहे है नये स्वप्नप्रदेश।
मेरा समुत्सुक ललाट
विमल नभका स्पर्श कर रहा है,
अथाह जगकी गहराइयोंका कौतुक
क्षणभर शान्त होता है।
जग-कलह से वहुत ऊँचे अनर्गल भर्ग मे
भूमा के स्पर्श से यह गिरिशिखर
वस रहा चिर स्वर्ग मे ।
विविध दिशाओं के झंझावात अहोनिश जूझते

चट्टान यह दृढ, काँपते किंतु मेरे पाँव। —
' भले हो तेरे पॉव कॉपते हो,
मेरी वृहत् पीठ में
देख, तडित के समान कंपन दौड़ गई ।
तेरी यहॉ है जो ऊँचाई
वही मेरी सच्ची उच्चता है,
तेरे कंधे पर चड़'कर
तेरी आँखों से देखता हूँ सारी सम्पदा।
स्वर्ग यहाँ से — तुझसे मुझसे —
कितना दूर है कहूँ ?
मृदुल कर अपना
वढा दे यहाँ से तू —
वस इतना।'

१२-६-१९५१

सप्तपर्णी

वघोर पछोना नमेल त*रा ढळ्या, सौम्य दो
प्रऊच पयराई गीणभरी अद्रिछाया ! हगी
दिगत लगी भूमिअचल रह्यु हयु ने भर्यु
हवा महीय ऊभरे अमृत स्वास्थ्यनु या नयु !
विकल्प सम ना तरे विहग गाई, ध्रुव्या रडा
समाधि महो गात स्व-स्थ अवकाश ऊडाउडो
शिला वितत आ पडो, अहो ज सप्तपर्णो गुहा
महो चरण सौम्य बुद्ध जिनवीर पेरा सुह्या
अहो ज दिनरात धंस, मनु भाग्यने चितवो
रह्या सुभग ए हशे, वळी अनेक पं,—सो छवि
तरे हृदयमा, समाधि पळएक लाधी रह
शिवोर्मि तणी, ऊठतु नव गमे गुफा त्या मह
" पियेर नहि, दीसरो तणु मुकाम छे सासरे
गुहा नहि परतु लाव तुजनी परीक्षा खरे "

२३-९-१९५१

सप्तपर्णी

दोपहर के बाद की झुकी धूप ढलने लगी,
सौम्य-सी घाटी को भर कर
प्रलंब अद्रिछाया फैल गई !
दिगंत तक हँस रहा
हराभरा भूमिअंचल ।
हवा में भी उभरता
स्वास्थ्यका निरा स्वच्छ अमृत ।
तैरता नही विकल्प-सा भी कोई विहग,
गहन समाधि मे डूबा
शांत, स्वस्थ सुंदर आकाश
यहाँ पडी यह विस्तीर्ण शिला,
यही सप्तपर्णी गुहा मे
चरण सौम्य बुद्ध जिनवीर के सुहाये थे ।
यही पर कितने ही दिनरात,
कर रहे होगे वे सुभग चितन
मानव-भाग्य का
और अनेक अन्य–
सभी छवियाँ हृदय मे तैरती है ।
समाधि क्षण-एक लग जाए
शिवोर्मि की;
इच्छा नही होती उठने की ।
वहाँ गुहा कहती है :
" मायका नही, ससुराल ही है मुकाम बेटीका ।
गुहा नही,
लोक ही है तेरी सही परीक्षा " ।
२३-९-१९५१

हपीना खंडेरोमा

ऊगी पोपो पूनम तरुना शुङ पूठेयी धीरे,
ए आलोके शिशिर सहसा चाकी ऊठ्या शी जागी
वाया धीमे रहो सूसवतो भ्रान्त जेवा समीरे,
घूमी रहेतो अहीयी तही ते सूनकारे अभागी
पेलु पंपा सरवर अने अद्रि आ माल्यवान,
धारे फीको सरल सुषमा तुंगभद्रा-तटो आ,
चापासे शा टुवटुव थया जीर्ण साम्राज्यप्राण,
वच्चे, मार्गे अटकी खटकी, मंद टप्पा जता आ

वृक्षो टोचे विधु क्षवक्तो, श्रो हसी त्या वनोनी
आ खंडेरो विजित जनना म्हेल ने मंदिरोना
आ तूटेली वितत कबरो ते विजेता जनोनी
ढोळी बन्ने उपर रस पूर्णेंदु सौन्दर्य केरो
आकाशेथी मृदुल मलके जोईने काळ-फेरो
टप्पो वेगे पुर प्रति धपे ते सूना खेतरोमा
१९४८

हंपी के खडहर

उगी पूस की पूनो
तरुझुड की ओट से धीरे,
उस आलोक मे
शिशिर सहसा जग पड़ी चौकी-सी।
समीर भी भ्रान्त-सा धीरे धीरे
सन् सन् कर बहने लगा,
यहाँसे वहाँ सूने मे वह अभागा घूमता ही रहता।
और यह है पंपा सरोवर
यह माल्यवान अद्रि
धारण करते सरल फीकी सुषमा तुंगभद्रा के ये तट,
चारों ओर कैसे क्षत-विक्षत बने है
जीर्ण साम्राज्य के प्राण;
इनके मध्य,
मार्ग मे
अटक-अटक कर जारहा यह इक्का।
वृक्षो की चोटी पर चमकता है विधु;
हँस पड़ी वहाँ वनश्री!
ये खंडहर है
विजित जनो के महलों और मंदिरों के,
और ये टूटी हुई वितत कबरे है विजेता जनों की।
उँडे़ल दोनों पर सौन्दर्य का रस,
अम्बर मे मृदु स्मित करता है पूर्ण चन्द्र।
देख कर काल की गति
इक्का दौडता शहर की ओर तेजी से
उन सूने खेतो मे।

१९४८

ઘરે આવુ છુ હુ—

ઘરે આવુ છુ હુ, નવ કદી રહ્યા દૂર ઘરથી
ઘસે હયુ તે તા વળદ ઘરઢાળા જ્યમ ઘસે
ઘરે બેઠા ચાહી નહિ જ જનનીભૂમિ ગરવી,
વસી દૂરે જવી કદીક નભવાણીથી ઘરનુ
સબ્યુ જા સગીત, શ્રવણ ચમચ્યા, તૃપ્તિ હૃદયે
લહી ગાઢી, ઘેરી રજનિ મહી ક્યારેક સપના
તણા તાણાવાણા મહી જતી વણાઈ જ રટણા
વિલાની માતાની ખટકભર ! રે દર્દ-ચયની !

ઘરે લાવુ છુ શુ? હૃદય, નવ એ પ્રશ્ન કર તુ
ન ઉદ્યોગે બુદ્ધિ, વણજ સમજુ ના જરીય તે
નથી ખાલી હૈયે પણ હુ ફરતા છેક જ, નવી
કઈ આશાઓ ને સ્મિતરુદનના મમ નવલા
ઘરે લાવુ છુ હુ —ખરુ જ કહુ? આવુ કવિજન
હતા તેનો તે હા! પણ કઈક શાણો વિરહથી

એસ એસ ચુમાન
૧૩-૧૨-૧૯૫૨

घर आता हूँ मै

घर आता हूँ मै,
कभी नही रहा दूर घर से ।
दिल तेजी से बढता
जैसे बैल लपकते है घरकी ओर ।
घर मे रह कर नही चाहा कभी
गरिमामयी मातृभूमि को,
जैसा चाहा दूर रह कर ।
कभी आकाशवाणी से यदि सुना घर का संगीत
कान चौंके,
हृदय ने गहरी तृप्ति पाई ।
गंभीर रात्रि मे कभी सपनो के ताने-बाने मे
गूँथ जाती मुरझा रही माँ की खटकने वाली रट,
रे कथा दर्द की !

घर लाता हूँ क्या ?
हृदय,
यह प्रश्न मत कर तू ।
नही उद्योग मे मति,
वाणिज्य तो कुछ भी नही समझता,
फिर भी बिलकुल खाली हृदय से नही लौट रहा मैं,
नई आशाएँ और स्मित-रुदन के नये मर्म
ला रहा हूँ मै घर ।
सच ही कह दूँ ?
आता हूँ कविजन वही का वही
किन्तु कुछ सयाना होकर विरह से ।

एस एस. चुसान
१३-१२-१९५२

पुनलग्न

" मने ज ना बोलावी ने लग्नमा तमारा बापु ?
बाये केवी, मने ज ना याद करी ? गाम आखु
नातर्यु हशे ज हासे होसे काढी ककोनरी,
एक शु तमान वस मारे ज माटे ना मळी !
केवा छा लुच्चा वंनेय, अमने शु मन नहो
हाय लग्न जावानु के ? जाई रहेत मूगी रहो
तमने हशे के बच्चे तोफान करीने हु त्या
सल्लेल करत, करी आवादा'डा कूदकूदा
पण जाणा छा क्या तमे अमे नथो एवा काई !
ऊलटु बाने हु केवी शणगारी देन, भाई —
सा'वनेय बाधा जेवा रहेवा नहो देत ! नथी,
कहा जा, साचे ज बाधा ? "

" छु ज ! " कही ते दिनथी
मावापोना जगतमा कवि करे छे सतत
पत्नी साथे पुनलग्न करवानी हिमायत
१८-१२-१९४९

पुनर्लग्न

‘ मुझे ही सिर्फ नही बुलाया न, तुम्हारी शादी मे बापू ?
माँ भी कैसी ?
मुझे ही याद नही किया ?
गाँव सारा निमंत्रित किया होगा
उमंग से लिख कर लग्नपत्रिका,
एक सिर्फ मेरे ही लिए आपको नही मिली ?
कैसे है चंट दोनो ही,
हमारा मन नही होता क्या शादी देखने का ?
देखती रहती मै तो चुप रह कर।
तुमने सोचा होगा
मै बीच में शरारत कर वहाँ खलल करूँगी,
दिनभर उछल कूद कर।
पर तुम कहाँ जानते हो—
हम कोई ऐसे नही है!
पर मै तो कैसी सजा देती माँ को,
भाई साहबको भी बुद्धू-से नही रहने देती !
नही हो — बताओ तो सचमुच मे बुद्धू ? ’
‘ हूँ ही ’—कह कर उसी दिन से
माँ-बापो के जगत मे
कवि करता है निरंतर
पत्नी के साथ पुनर्लग्न करने की हिमायत।

१८-१२-१९४९

भट्ट बाण

शास्यसि मरणन प्रीतिमित्यसंभाव्यमेव ।

[–कादम्बरीए प्रियतमने मारवा मरवाना अभिलाषा, ज्या बाणना कृति अटका जाय छे]

१

'जाणशो मृत्युथी प्रीति'–ए ता नितु असभव!'
थभी कादबरी त्या ने विरहे थई नीरव
चद्रापीडपदे प्हाची निवदित करे सखी
आत्मरूपा पत्रलेखा विश्रभे जेवी ओळखी
देवी कादबरीने, त्या पूठे पोते रही हती,
कुमारविरहे तेनी दशा एणे लही हती —
प्रीतिउद्रेकनी पीडा वेगे नव सही जता,
असहायपणे गात्रो वियोगाग्निथी सीझता,
बोलावी पत्रलेखाने बेसाडी पडखे जरी,
प्रिया प्रीतमनी तेने पोते प्रियतरा करी,
ने वाछयु खोलवा हैयाभाव गूढ महाबल
कपे अगा, स्फुरे ओष्ठ–ने शमे भयविह्वल
सुणे स्फटिकअकाई छाया पोतानी ते रखे,
कुमारी भूसती एने चरणागुष्ठने नखे
हसो सुणी जशे जाणी झकृतिथी नसाडती,
अने गहमयूरोने ताबूलेथी उडाडती
स्फुरत अधरे झूकी जवा मधुकरो करे,
सतप्त छातीने छेडे करे ते दूर सत्वरे

भट्ट वाण

ज्ञास्यसि मरणेन प्रीतिमित्यसंभाव्यमेव इति ।

[—प्रियतम के नाम कादवरी के सदेश के अतिम शब्द, जहाँ वाण की कृति अटक जाती है ।]

१

'जानोगे मृत्यु से प्रीति!—यह तो किन्तु असंभव!'
रुक गई कादंवरी यहाँ, और हो गई विरह मे नीरव ।
पहुँच कर चंद्रापीड के चरण में
आत्मरूपा सखी पत्रलेखा निवेदित करती
जिस रूप मे विश्रंभ मे पहचाना था उसने
देवी कादंवरी को;
रही थी वह पीछे, थी अवगत
कुमारविरह की दशा से ।—
सह न पाने से किसी तरह
प्रीतिउद्रेक की पीडा,
वियोगाग्नि से सिझते थे गात्र असहाय,
विठाया पत्रलेखा को बुला कर निकट,
प्रिय की स्नेहभागा को करके प्रियतर;
चाहा गूढ हृदयभाव को खोलना वडे यत्न से ।
काँप उठते अंग, स्फुरित होते ही
शान्त हो जाते ओष्ठ, भयविह्वल ।
सुन तो नही जाएगी स्फटिक-विम्वित निज छाया?
पोछ देती है उसे कुमारी चरणांगुष्ठ के नख से ।
सुन जाएँगे हंस? भगा देती उन्हें झंकृति से,
उडा देती गृहमयूरो को तांबूल से,
अधर पर झुकते गूँजते भ्रमरों को
कर देती सत्वर दूर, संतप्त छाती के छोर से ।

बोलवा करती त्या ज ऊचे थान थई जती
प्रियना भणकाराथी, आमतेम विलाक्ती
नहि सह्यु जता हैये, अत नहि रह्यु जता,
सोप्या ते पत्रलेखाने सदेशवचनो हता
"जाणु तारो प्रति मारी क ते योग्य न आचर
सरो आववु ता छेटे रह्यु, सदेशथी डर
अने हु शु शु सदेशु? 'अतिप्रिय तु छे मने?'
–पुनरुक्ति अरे ए ता 'अने हु प्रिय छु तने?'
–प्रश्न ए जडतानो हा जूठु–'ना जीवु तु विना'
'मनोजे हु तेने अर्थी'–ए उपाय भेटवा
'तने वेळे हर्या छे में'–धष्टता ते छकेलनी,
'घटे पधारवु निश्च'–एमा वाणी सौभाग्यगवनी
'स्वय आवोश हु'–एमा स्त्रीचापल्, उचारता
'अन यासक्त छु', आत्मभक्तिकथन तुच्छता
धूलारी काढगी प्रेम शकी ना पहोचाडवा
सदेशो'–ते अरे जाणे ऊघेलाने जगाडवो
'अनुजीवी जनाना ना दु खने गणु हु रजे
एवी दारुण थै जाउ'—अतिप्रणयिता ज ए
'मर्ये हु, जाणशो प्रीति'–किंतु ए तो असभव"
–थभी कादबरीवाणी त्या थै विरहनीरव

हो ज्यों प्रिय की आहट, देख लेती इधर उधर ।
सह न पाने से हृदय में,
रह न पाने से अंत में
सौप दिये पत्रलेखा को संदेशवचन :
" जानती हूँ तेरी महत् प्रीति को,
नही कर पाती कुछ भी इसके योग्य ।
सरक आना पास तो रहा दूर,
डरती हूँ संदेश से भी ।
और क्या क्या कहूँ सदेश में ?
'अतिप्रिय हे तू मुझे ?'—होगी यह तो पुनरुक्ति ।
'प्रिय हूँ मै तुझे ?'—जडता का प्रश्न यह ।
और 'नही जी पाती तेरे बिना' नही है सच ।
'मनोज-अर्पित मै तुम्हे'—यह तो भेटने का उपाय ।
'छिन लिया मैने तुझे बल से'
—धृष्टता यह छकीले की ।
'आना ही होगा अवश्य'—वाणी सौभाग्यगर्व की ।
'आऊँगी मै स्वयं'—स्त्रीचापल्य यह तो ।
'अनन्यासक्त हूँ' कहने मे प्राकट्य
तुच्छ आत्मभक्ति का ।
'दुतकार दोगे प्रेम, शका से न भेजूँ सदेश'
—यह तो मानो सोते हुए को जगाना ।
'अनुजीवी जनो के दुःख की उपेक्षा कर बैठूँ
ऐसी हो जाऊँगी दारुण'
—होगी अतिप्रणयिता यह तो ।
'मृत्यु पर मेरी, जानोगे प्रीति'—किन्तु यह तो असंभव ।"
रुक गई यहाँ कादंबरी और हो गई विरहनीरव ।

जीवी ज्यादवरी तो ते माणवा मिलनोत्सव,
किंतु शे कवि ए शब्दे चाल्या सकेलीने भव?
कथा ए–ए ज हा–वाकचे अधूरी मूकी नीकळ्या
(आदरी करवा पूरी पुत्रने सोंपी ऊपडया)
कथानी नायिकाने जे असभाव्य गण्यु हतु,
कविने काज ते मृत्यु छेक सभाव्य हा थयु!
वाग्धारा थभी ए शब्दे, प्रकाशी वसुधागण
प्रीति ने मृत्युनु हैये घूटायेलु रसायन!
प्रीति ने मृत्युना गाढ स्पर्शे वित्त द्रव्यु हशे!
शा शा अनुभवे अंते अहो जावो ठर्यु हशे?

२

प्रीतिकूटे हतो वास, वात्स्यायन सुवशना
आदि विप्र वत्स अर्थे रचेलो जे तपोमना
मुनि सरस्वतीपुत्रे पितराई–करे गृह
मूकी, विद्या दई, पोते वळ्या वने सुनिस्पह

पुरा ब्रह्मसभा मध्ये, कहे छे के, हतो मळी
बीटी विरचीने माटी एकदा मुनिमडळी
सामनिर्घोष वेळाए आशुरोष ऋषिवरे
दुर्वासाए स्पावेपे ऋचा आलापी विस्वरे
सुणीने स्तब्ध सौ ऊभु शापभीत ऋषिदल,
चित्राकित समु शात जटाजूटनु मडल

जी गई कादंबरी तो मनाने को मिलनोत्सव,
किन्तु कवि तुम क्योकर चल पड़े
इन शब्दो पर समेट कर जीवन ?
कथा वह इसी वाक्य पर छोड कर अधूरी, चल पड़े ।
(आगे बढा कर समाप्त करने के लिए
सौप कर पुत्र को, चल पडे)
माना था असंभव जिसे कथा की नायिकाने
वही मृत्यु हो चुकी संभाव्य कवि के लिए ।
प्रकाशित करके वसुधा के आँगन मे
—हृदय मे निष्पन्न
प्रीति और मृत्यु का रसायन,
थम गई इस शब्द पर वाणी !
द्रवित हुआ होगा चित्त
प्रीति और मृत्यु के निविड स्पर्श से ।
कैसे कैसे अनुभवो के बाद वह
आकर यहाँ हुआ होगा स्थिर ?

२

प्रीतिकूट मे था निवास,
वात्स्यायन सुवंश के आदि विप्र वत्स के लिए
रचना की थी जिसकी तपोमना मुनि सरस्वतीपुत्रने ।
चचेरे भाई के हाथो सौप कर घर, देकर विद्या
स्वय वनको निकल पड़ा था निस्पृह ।
कहते है कि पुराकाल मे ब्रह्मसभा मे
विरंचि को घेरकर एकदा मिली थी मुनिमंडली ।
सामनिर्घोष के अवसर पर वहाँ आशुरोष ऋषिवर दुर्वासाने
क्रोधावेश मे ऋचा को उच्चरित किया विस्वर ।
सुनकर स्तंभित रह गया सारा ऋषिदल शाप-भीत,
चित्राकित मानो शान्त जटा-जूट का मंडल ।

बेठी ब्रह्मा कने सामसमाधिमां सरस्वती,
काननी टीनीआ विद्यामद टपकती हती
कुमारी नमती ऊठी स्वरभरथी, उन्मना
हसी पडी समुत्था नित्यातनयौवना
आछा भूमरथी एना प्राप्य ब्रह्मवेना,
दनज्यास्मानी आशाथी नाथ नवचेना
दुखागा नह हुकारे त्या ना जर लई करे
पापिणी ! आ ! मत्युगारे पडा तु !'—नाप उचारे
पुत्र दग्या सुधीनी त्या ब्रह्माए अवधि नी,
कुमारी ऊतरी भाम, भारत ऊर्मि ना रची
प्रलय वाट लवाव्या गगाने अत स्थापवा
विन्ध्याद्रिए हाम जाणे एवा नाण वहे महा
तना मयूरगजना तटनी निकटे करी
पर्णकुटि, वसी काइ कुमारी व्रत आदरी
एकदा त्नि ऊषामा सूरचा अस्वार वचायथी,
जरे वा एनी आगथी आ आगा खसती नथी ?
दीधा देहात्म होसे ए स्नेहादधि दधीचने,
यथाकाले गर्भ वहेता पामी प्रीतिअपत्यने,
स्वर्गे सरस्वती वेगे सचरी शिशु ऊठ्यो
मित्राई वत्सनी साथे (पिता तो तपमा ठर्यो)
करी समान्त सवेना विद्याना सव वत्समां,
प्रीतिकूटे स्थापी, चाल्यो सारस्वत अरण्यमां

बैठी थी ब्रह्मा के पास मामसमाधि मे सरस्वती,
कान की लौ विद्यामद से टपकती थी उसकी ।
चौंक उठी वह कुमारी स्वरभंग से,
उन्मना हँस पडी समुल्लास से वह नित्यनूतन-यौवना ।
उसके हलके भ्रूभंग से कॉप उठा ब्रह्मकेतन,
दंतज्योत्स्ना की आभा से संचरित हुआ नवचेतन ।
चड हुँकार कर, जल लेकर हाथ मे
शाप उच्चारित किया दुर्वासाने —
"आः पापिणी ! पडो तुम मृत्युलोक मे ।"
पुत्रदर्शन तककी शापावधि ब्रह्माने रची,
कुमारी पृथ्वी पर आयी उतर
भारत मे रमा उसका मन ।
वह रहा था शोणनद
विन्ध्याद्रिने मानो गगा को स्थापित करने को अंक मे
बॉह फैलायी हो ।
उसके मयूर की केकाध्वनि से युक्त तट पर
बनायी पर्णकुटि,
व्रत लेकर बस गई वह कुमारी आशा से ।
एकदा दिन उगते ही आ पहुंचा कही से कोई स्वार,
अरे, क्यो उसकी ऑखो से ऑख हटती नही ?
उस स्नेहोदधि दधिच को देहात्मका समर्पण किया प्रेम से,
यथाकाल धारण कर गर्भ अपत्य पाया,
गई सरस्वती पुन: स्वर्ग मे ।
शिशु बडा हुआ चचेरे वत्स के साथ ।
(पिता तो थे तप मे लीन ।)
विद्या के सारे सकेत वत्स मे संक्रान्त कर,
प्रीतिकूट मे स्थापित कर,
वह सारस्वत चला गया अरण्य मे ।

प्रीतिरूटे पूनजाथी साम्म्या प्रसाद ना
विद्यागातयधारायी भरपूर भर्यो हता
त्याध्या ते सहजे सव मविने दागवे महा,
वितु त्या लाध्यु मयुना बीजनुं पडवुम हा!
वैशपायन ते नाना कयाना गिगु गुरना
थया वर्वि मातृहीन, रह्या आधार ना वरा
स्नेहप्लावित हृयथी पिना मातृना वरी,
चौद वप थया माड त्या ता लीघा यम हरी
न ए झट स्झाया घा, वाळे वरी वळी वळ
माना थ डालवा लाग्या यौवन सुविशृंगल
लक्ष्मीनाये सुले वासा सरस्वती सहे हतो,
मित्रा परिजनो भाडु नणा तोटाय ना हतो
भापारवि हतो मित्र ईशान, स्नहीजोडली
रुद्र—नारायण, प्रौढ पडिताय रह्या मळी
वारवाण—वासवाण, वेणीभारत वणना
ववि, याम—सूचीवाण स्तुतिपाठी हता जना,
वथावार जयसेन, चड तावूलदायर,
मन्दारक हता वद्य, सुदृष्टि ग्रथवाचक,
वीरवर्मा चित्रकर्ता गोविन्दक सुलेखक,
मयूरक गारुडी, ने कराल मत्रसाधक
मृदग वाजे जीमूत, साध्वी त्या चक्रवाकिका,
सवाहिका केरलिका ने सरन्ध्री कुरगिका
वगाडे वासळी त्या वे पारावत—मधुकर,
नतकी हरिणिका ने गाधर्वाचाय दर्दुर
ताडविक नचावे त्या स्वय नान्ने दिखडक

प्रीतिकूट में सारस्वत-प्रसाद तो भरापूरा था
विद्यामातत्यधारा से पूर्वजो की ।
मिला वह प्रसाद कवि को अपने शैशवकाल मे ही,
साथ में मिला
मृत्यु के वज्र का गिरना भी !
कथा के उस शुकशिशु वैशंपायन-सा
बना कवि मातृहीन, निराधार ।
स्नेहप्लावित उसके पिता ने मातृता की,
और ज्यो ही कवि हुआ चौदह वर्ष का,
पिता को भी हर लिया यम ने ।
वे घाव भरे नही तुरन्त मे,
समय के बीतने पर ही हुई शान्ति ।
मत्त होकर डोलने लगा विशृंखल यौवन मे,
सरस्वती के साथ सुखपूर्ण निवास था लक्ष्मी का भी,
मित्र, परिजन और बंधुओ की भी नही थी कमी ।
मित्र था भाषाकवि ईशान; स्नेहीयुग्म रुद्र नारायण;
प्रौढ पंडित वारवाण—वासवाण थे मिले;
वर्ण का कवि वेणीभारत,
काम-सूचिवाण स्तुतिपाठी भी थे।
थे कथाकार जयसेन, तांबूलवाहक चंड,
वैद्य मंदारक, ग्रंथवाचक सुदृष्टि,
वीरकर्मा चित्रकर्ता, गोविन्दक सुलेखक,
मयूरक गारुडी और कराल मत्रसाधक।
था मृदंगवादक जीमूत, थी साध्वी चक्रवाकिका,
संवाहिका केरलिका, और सैरन्ध्रि कुरंगिका ।
पारावत और मधुकर वंसी बजाते थे ।
नर्तकी थी हरिणिका, गांधर्वाचार्य थे दर्दुर ।
नृत्य-गुरु ताडविक थे, और नर्तक शिखंडक,

सोमिल ने ब्रह्मादित्य गायत्री, धूर्त भीमन —
यसे ऐश्वर्यमा आवा ताये मन ठर्यु नहीं,
देशावर जवा, जावा जग, झग्या उरे रही
कुतूहल न ए छानी महो अते नम्यु जना
सुखो सगवडा सर्व ठोकरे दई, दाझना
मायाळु स्नही हैयाना ठपको लई आशिषे,
मोटाना उपहासानु बाधी भाथु, दिशादिशे
निवध भमना चाल्या, जाणे शु वळगाड ना
वळग्या होय न एवो, गोदरे गामगामना
भम्यो राजकुले कन, सेव्या गुरुकुलो कई,
बुद्धिवन विदग्धोना मडळे घूमतो रही,
गुणगभीर गोष्ठीथी गोष्ठीमा सरतो हता
ग्राहशो एकथी बीजा घरामा सरकचे जतो
विद्या विनय नपुण्ये करीन अवगाहन
थ लोकावेक्षणे दक्ष आवी ऊभो गहागण

कविन वोटतो दिव्य जाग्यो अध्ययनध्वनि,
वीणा सारस्वतस्तोनो तणी मजु रही रणी
भाले भस्मत्रिपुडा ने शिखा कपिल धारता,
ब्रह्महोता कने, शिष्यो यज्ञवह्नि समा हता
बालिकाओ द्वार पासे नीवारबलि अपती,
पुष्पित द्रुमथी दुर्वाभूमि दृग सुतपती
वागे वागाळनी धीरे होमधेनुनी घटडी,
नवा जन्मेल वत्सानी सुहे फटती शीगडी

गायक थे सोमिल और ग्रहादित्य
धूर्त भीमक था—
ऐसे ऐश्वर्य मे रहने पर भी हुआ नही मन स्थिर;
देशान्तर भटकने की, विश्व देखने की
थी हृदय मे कामना ।
उस वक्ष में कौतूहल न हुआ शान्त,
सुख-सुविधाओ को ठुकरा कर
दुःखी ममत्वशील स्नेही जनो का आशिष मे उपालम्भ ले
बड़े लोगों के उपहासों का पाथेय बाँध,
दिशा दिशा मे निर्बंध भटकता चल पडा
गाँव गाँव मे—
मानो सिर पर भूत सवार हो ।
भटका अनेक राजकुलो मे,
रहा अनेक गुरुकुलो मे भी,
वुद्धिधन विदग्धो के मंडल मे घूमता रह कर
गुणगंभीर गोष्ठी से गोष्ठी मे जाता रहा,
ग्राह की तरह एक से दूसरे हृद मे सरकता रहा ।
विद्याविनयनैपुण्य मे अवगाहन कर
लोकावेक्षण से दक्ष होकर
आकर खडा रह गया गृहागन मे ।

कवि को आवृत करती अध्ययन की दिव्य ध्वनि जगी,
वज रही सारस्वतस्तोत्रों की मंजुल वीणा ।
भाल पर भस्मत्रिपुंड और कपिल शिखा को धारण करते
यज्ञवह्नि-से शिष्य थे ब्रह्महोता के पास ।
बालिकाएँ द्वार के पास नीवारवलि देती थी,
पुष्पित द्रुमो से दुर्वाभूमि नेत्रो को शीतल करती थी,
जुगाली करती हेमधेनु की घंटी वज उठती धीरे,
नवजात वत्सो के फूटते छोटे सीग सुहाते,

आमतेम रहे घूमी कूदता अजशावको,
विश्रान्ति ले उपाध्याय, आरभे पाठ ज्या शुको
वक्षो पर हविर्धूम प्रज्ञाध्वज सुशोभन,
प्रीतिकूटे कविवास साक्षात त्रयीतपावन

एक वर्पे दिशाव्यापी मफुल्ल मल्लिका समु
अट्टहास्य स्फुयु ग्रीष्म–महाकालनु कारमु
ललाटे ललनाआना शीतलस्पश चदन
ने सरिद्वारि शापता वह्या उग्र समीरण
वायु ग्रस्त कपोतानी चीसे बधिर विश्व हा।
धराना उरथी जाणे सर्या नि श्वास हो महा,
एवा वटोळिया जाग्या, गाडातूर वनी घूमे,
चढी धूमरीए ऊचे गिरिशृगा परे झूमे
खोसी मारपीछा खेले कराली रासमडली,
फटे वास सूका तेनी वागे खोखरी वासळी
अन आ होय आछु शु एम अग्निय ते रुठ्या,
डुगरे डुगरे घोर दावानल जग्गी ऊठ्या
वजे वटाळडमरु, पदपद ऊठे दव
जाणे माडयु महारुद्र शिवे प्रलयताडव

वपारे जमवा बेठा हता त्या दूत आवियो
थपाटो ग्रीष्मनी खाता, काळियो हाय रूट गयो
अने वालावीने पासे कगिए हृदयामते
अर्पी शीतल्नाअध्य पूछी वान गते गते

इधर उधर घूमते चौकड़ी भरते अजशावक;
शुको का अध्यापन-कार्य आरंभ होने पर
विश्राम लेते उपाध्याय ।
वृक्षो पर हविर्धूम प्रज्ञाध्वज था सुशोभित,
साक्षात् त्रयी तपोवन-सा था
प्रीतिकूट मे कवि का वास ।

एक वर्ष दिशाओ को करता व्याप्त
संफुल्ल मल्लिका-सा
ग्रीष्म महाकाल का कराल अट्टहास हुआ स्फुरित ।
ललनाओ के ललाट पर शीतलस्पर्श चंदन को और
सरिता के जल को शोषित करता बहने लगा उग्र समीरण,
त्रस्त कपोतो की चीखो से बना विश्व बधिर!
वायु के बवंडर जग उठे और उन्मत्त हो घूमने लगे,
मानो हो धरा के उर से निकले नि:श्वास,
घुमड़ी लगाते झूमने लगे गिरिश्रृंगो पर ।
मोर के पंख खोस कर कराली रासमंडली-सा खेलने लगे,
सूखे बाँस फटने लगे, उसकी बज रही कर्कश बाँसुरी।
और ये भी जैसे कम हो
हुए अग्नि भी कुपित,
डूँगर डूँगर पर घोर दावानल जल उठे ।
आँधी का डमरू बजने लगा, पदपद जल उठे दव
मानो महारुद्र शिवने शुरू किया प्रलयताण्डव ।

दोपहर मे जब भोजन कर रहे थे
आया एक दूत ग्रीष्म के थपेड़े खाता हुआ;
कौर हाथ मे ही रह गया ।
बुला कर पास
हृदयामृत से शीतलता का देकर अर्घ्य
धीरे धीरे युक्तिपूर्वक बात पूछ ली कवि ने ।

सम्राट कायकुब्जे जे सुहृ श्री हृपवधन,
शास्त्रे कविमनाहृष शस्त्रे दुष्टारिमदन
ते सम्राट तणा भ्राता कृष्णे सदेश माकल्या,
निष्कारण प्रीतिभार तेना कवि परे ढळचो
'अमे तो आपना वदी गुणानुबद्ध दूरथी,
परतु चक्रवर्तीनी राखीए वत्ति ते मथी
आपनाये घणा आहीं दोपगायक, — हाय ज ! —
तारुण्यचापल्ये चीधी चारित्र्ये चडवे रज
ता प्रत्यक्ष कृपा हाजो एक वार पधारवा,
आपनी ते उपस्थिति पात्र छे सौ सुधारवा '

ए ग्रीष्मनीये वदी ना उल्काजिह्वा क्दी शके,
एवा ते तप्त वचनो, सुणी धय चळे न के ?
परतु पी गया सव, टेव ए ता हशेय हा !
प्रभाते प्रीतिकूटेयी परियाण कयु महा
शुक्लस्मित, शुक्लतेज, शुक्लस्रग् शुक्लअम्बर,
अत शीतल्ना यागे गण्यो ना ग्रीष्मडबर
अमी ऊभरती आखे थनु पुष्पित शु वन ?
मृगा विह्गन देतु कठ शु उरगुजन ?
वच्चे आळगीन पुण्य भागीरथी-प्रवाहन
जई प्हाच्या दृत साये त महानृपनी कने
चक्रवर्ती यकी याग चक्रवर्ती तणा थया,
व्यामभा अभिजित् प्रत्ये जाणे बृहस्पति सया

सम्राट उच्चया कर्णे काल्कूट समी गिरा
'आज स्पष्ट त ?' कप्यु सुणीने राजमदिर

कान्यकुब्ज में थे सोहित सम्राट श्री हर्षवर्धन—
शास्त्र मे जो कविमनोहर्ष
शस्त्र से दुष्टारिमर्दन ।
उस सम्राट के भाई कृष्णने भेजा था संदेश,
था कवि पर उसका निष्कारण प्रीतिभाव ।
"हम तो है आपके बंदी
दूर-स्थ होकर भी गुणानुबद्ध,
किन्तु चक्रवर्ती की वृत्ति को बनाये रखते है यत्न से—
है यहाँ भी आपके दोषगायक,—होगे ही—
आपके तारुण्य की चपलताओं की ओर इंगित करके
चढाते है चारित्र्य पर रज ।
एक बार प्रत्यक्ष आ जाने की कृपा करना,
उपस्थिति आपकी सभी ठीक करने को पात्र है ।"

उस ग्रीष्म की उल्काजिह्वा भी नही उच्चरित कर सकती,
थे ऐसे ये तप्तवचन,
सुनकर धैर्य भला विचलित हो न क्यो?
परन्तु कवि सब पी गए, आदी हो गये होगे न!
प्रभात मे प्रीतिकूट से किया प्रयाण
शुक्ल-स्मित, शुक्ल-तेज, शुक्ल-स्रग्, शुक्ल-अंबर;
अत:शीतलता के कारण उपेक्षा की ग्रीष्माडंबर की ।
अमृतस्रवित नेत्रों से क्या वन पुष्पित होता था?
उरगुजन गूँगे विहंग को देता था कंठ?
पार कर भागीरथी के पुण्य प्रवाह को
दूत के साथ उस महानृप के पास पहुँचे ।
चक्रवर्ती से हुआ चक्रवर्ती का योग,
व्योम मे अभिजित् के प्रति सरका मानो वृहस्पति ।

सम्राटने उच्चरित की कालकूट जैसी वाणी कर्ण मे:
'यही है वह भुजंग?'

ખમી ખાઈ, કહ્યુ ધીરા પરતુ દઢ વાકયથી
'વાત્ય હુ અનુશોચુ, આ ભુજે કોઈ સરો નથી
વિવાહ વતુ ગાહસ્થ્યે, સન્માર્ગે સૌ રહે નરા
આ રાજ્યે ચાપલા વ્હીતા આદરે વનવાનરો।
બીજાનુ સાભળી વાલે એને શુ કથવુ વધુ?
કાળે કરી મને ને જે હશે તે જાણનો વધુ'

૩

જાણ્યુ કાળે કરી સવ શ્રીહર્ષે, સેવતા કવિ
સ્વય સરસ્વતીહપ વયો એ જગરાજવી
શ્રીહર્ષે તા જાણ્યુ કે શા તે શીલાચાર લપટ।
મત્યુથીયે અકારો તે ટળવા અકીર્તિનો પટ
મૃત્યુથી જ શકે જાણી પ્રીતિ રે! એવી પ્રેયસી
તણે પદ પ્રીતિલક્ષ્મી કવિની કિંતુ ન વસી?।
પ્રીતિકૂટ નિવાસે જે પાયામા જ હતી કથા
પ્રીતિની, મિશ્ર થૈ તેમા વ્હાલાના મત્યુની વ્યથા,
ને યથાકામચારે જે સ્ફુર્યા યૌવનસાહસા,
સસારાનુભવાનાયે ગ્રીષ્મ સૌ શોષતો રસા
સ્ફુર્યા, તેમા ભળ્યા તાપ દુષ્ટાપવાદઉક્તિના,
સકોરતા ઉગ્ર અગ્નિ હૈયે ભારેલી પ્રીતિનો?
ચિતાદાહ વિનાયે, કે, વયુ તે નિત્યમત્યુથી
રોમેરોમે સિચાયુ ન ભૂજાવુ? નોવવુ મથી।

काँप उठा सुनकर वह राजमंदिर ।
निगल कर ये शब्द, कहा शान्त किन्तु दृढ वाणी में :
'वाल्य के लिए मैं अनुशोच करता हूँ,
इन भुजाओ मे रही नही कोई ।
विवाह के समय से हूँ गृहस्थ ।
यहाँ मनुष्य सन्मार्ग पर चलते है,
वंदर भी चपलताएँ करते डरते है इस राज्य मे ।
दूसरों से सुन कर वोलनेवालो से अधिक क्या कहना ?
समय जाने पर जानेगे मुझे सव तरह ।'

३

श्रीहर्षने जाना समय बीतने पर सव कुछ,
कवि की संगति मे वह पृथ्वीपति स्वयं वना सरस्वती-हर्ष ।
श्रीहर्षने जाना कि कैसा था वह शीलाचार भुजंग ।
दूर हुआ मृत्युसे भी अप्रिय अपकीर्तिका पट ।
किन्तु मृत्यु से ही जान सके प्रीति
ऐसी प्रेयसी के चरणोंमे वसो थी
क्या कवि की प्रीतिलक्ष्मी ?
प्रीतिकूट निवास की नीव मे ही जो प्रीति की कथा थी
मिली उसमे प्रियजनो की मृत्यु की व्यथा,
और यथाकामचार मे किये जो यौवन साहस,
सभी रसो को सोखता
संसारानुभव का ग्रीष्म भी स्फुरित हुआ,
उसमे आ मिला ताप दुष्टापवाद उक्ति का ।
हृदयस्थ प्रीति की उग्र अग्नि प्रदीप्त करता ?
— कि चितादाह के विना भी,

हुआ उस नित्य मृत्यु से
सिझना और भूना जाना रोम रोम में ?

प्रीतिने मृत्युनी गाढ अनुभूति थता स्थिरा,
प्रीतिने मत्युनी नीको वच्चे व्हेती कविगिरा,
'मुत्युथी जाणशा पीति'—ए वाक्ये थभी अचन
आदरी त्या महामौने, करी सव प्रियापण
मकेनी कविए लीला, पामता ज प्रकाशन
मत्युनो प्रीतिनु हैये घूटायेलु रसायन ?

४

'मर्ये हु जाणशो प्रीति!' जाणी एणे? न जाणु हु!
आज क शतनो वीत्ये उक्तिनो मम माणु हु
म २५-२९ १९४४

मृत्यूदड

फासो दीधो गोडसेने अमोए
गाधीजीना देहने मारनारने
गाधीजीना जोवने जीवता ने
मूआ केडे मारतु रे क्षणे क्षणे
पडघु अमामा–सहुमा कईक,
तेने हशे के कदी मत्युदड ?

मरठ
१५-११-१९४९

महा कष्ट से जीते रहना !
प्रीति और मृत्यु की गाढ अनुभूति स्थिर होने पर,
प्रीति और मृत्यु की नाली के बीच वहती कविगिराने,
'मृत्यु से जानोगे प्रीति'—इस वाक्य से रुक कर
महामौन से अर्चना की
करके सब प्रियार्पण ?
मृत्यु और प्रीति का जो हृदय मे एकरूप रसायन था,
उसका होते ही प्रकाशन कवि ने समेट ली लीला।

४

'मेरे मरने पर जानोगे प्रीति'—
जाना उसने ? न जानता मैं।
आज अनेक शतक वीतने पर
उस उक्ति के रहस्य का करता हूँ अनुभव।

मई २५-२९, १९४४

मृत्युदंड

फासी दी गोडसे को हमने
गांधी की देह के घातक को।
गाधी के जी को, उनके जीते जी
और मरने के वाद जो क्षण-क्षण मारने वाला
पड़ा है कुछ हममे — सभी मे,
होगा उसको क्या कभी मृत्युदंड ?

मेरठ
१५-११-१९४९

भले शृंगो ऊंचा

मन डोलावे आ गिरिवर तणां मौनशिखरो
धसे धारो ऊंची, तुहिन तहीं टांचे तगतगे,
शुचि प्रज्ञाशीलुं स्मित कुमुदपुंजो सम पगे,
वहीं रहेतां त्यांथी खळखळ चिर शाता जळझरां
ढळी पीतां शृंगस्तनथी तडना शांति-अमृत,
मुगे एने केवुं विमल शुभ ए दूध सुहतुं !
हसे नीलुं ऊंडुं नभ, हृदय आशिष् वरसतुं
रसी शीतस्पर्शो दिश दिश, भमे मत्त मरुत

गमे शृंगो, किन्तु जनरव भरी खीण मुज हा !
तळेटीए वीथी सहज निरमो, शाल्तरुनी,
रमे त्यां छायाओ, उटज उटजे सौम्य गृहिणी
रचे संध्यादीप, स्तिमित-दृग खेले शिशुकुलो,
स्फुरे खीले व्हीले हृदय हृदये भावमुकुलो, —
भले शृंगो ऊंचा, अवनितल वासो मुज रहो !

२८-१०-१९५३

भले ही ऊँचे शृंग

मुझे बुलाते है
गिरिवर के वे मौन शिखर।
बढती धाराएँ ऊँची,
तुहिन वहाँ चोटी पर चमकते,
शुचि प्रज्ञाशीतल स्मित कुमुदपुंज-सा झलकता।
बहता रहता वहाँसे कल कल
छल छल चिर शांति का निर्झर।
झुक कर पीती है शृंगस्तन से धूप
शान्ति-अमृत;
उसके मुँह पर वह विमल शुभ दूध कैसा सुहाता!
हँसता गहन नील नभ,
हृदय-आशिष बरसाता,
शीत स्पर्श से रसमय करके दिग दिश को,
बहता मत्त मरुत।
शृंग पसंद,
मेरी हो किन्तु जनरव से भरी घाटी!
तलहटी में सहज ही शालतरु की बना कर वीथी,
खेले वहाँ छायाएँ,
उटज-उटज मे सौम्य गृहिणी रचती सन्ध्या-दीप,
शिशुकुल खेलते स्तिमितदृग,
प्रस्फुटित हो, खिले मुरझाये हर हृदय मे भावमुकुल;—
भले ही ऊँचे शृंग,
मेरा निवास हो अवनितल!

२८-१०-१९५३

भले शृंगो ऊंचा

मन थोलावे आ गिरिवर तणां मौनशिखरो
धसे धारो ऊंची, तुहिन तहीं टांचे तगतगे,
शुचि प्रज्ञाशीळु स्मित कुमुदपुंजो सम झगे,
वही र्‌हेतां त्यांथी खळळ चिर शाता जळधरो
ढळी पीतां शृंगस्तनथी तटका शांति-अमृत,
मुखे एने केवुं विमल शुभ ए दूध सुहतुं !
हसे नीलुं ऊंडुं नभ, हृदय आशिष् वरसतुं
रसी शीतस्पर्शे दिश दिश, भमे मत्त मरुत

गमे शृंगो, किंतु जनरव भरी खीण मुज हा !
तळेटीए वीथी सहज निरमी, शालतरुनी,
रमे त्यां छायाओ, उटज उटजे सौम्य गृहिणी
रचे संध्यादीप, स्तिमित दृग ज्हेले शिशुकुलो,
स्फुरे खीले व्हीले हृदय हृदये भावमुकुलो, —
भले शृंगो ऊंचा, अवनितल वासो मुज रहो !

२८-१०-१९५३

भले ही ऊँचे श्रृंग

मुझे बुलाते है
गिरिवर के वे मौन शिखर।
बढ़ती धाराएँ ऊँची,
तुहिन वहाँ चोटी पर चमकते,
शुचि प्रज्ञाशीतल स्मित कुमुदपुंज-सा झलकता।
बहता रहता वहाँसे कल कल
छल छल चिर शाति का निर्झर।
झुक कर पीती है श्रृंगस्तन से धूप
शान्ति-अमृत;
उसके मुँह पर वह विमल शुभ दूध कैसा सुहाता!
हँसता गहन नील नभ,
हृदय-आशिष बरसाता,
शीत स्पर्श से रसमय करके दिश दिश को,
बहता मत्त मरुत।
श्रृंग पसंद,
मेरी हो किन्तु जनरव से भरी घाटी!
तलहटी मे सहज ही शालतरु की बना कर वीथी,
खेले वहाँ छायाएँ,
उटज-उटज मे सौम्य गृहिणी रचती सन्ध्या-दीप,
शिशुकुल खेलते स्तिमितदृग,
प्रस्फुटित हो, खिले मुरझाये हर हृदय में भावमुकुल;—
भले ही ऊँचे श्रृंग,
मेरा निवास हो अवनितल!

२८-१०-१९५३

गया वर्षो —

गया वर्षो ते तो खबर न रही केम ज गया!
गया स्वप्नोल्लासे, मृदु करुणहासे विरमिया!
ग्रह्यो आयुर्मार्गे स्मितमय, वदी तो भयभर्यो,
वधे जाणे निद्रा महो डग भरु एम ज सर्यो!
उरे भारेलो जे प्रणयभर, ना जंप क्षण दे,
स्फुर्यो कार्ये काव्ये, जगमधुरपो पी पदपदे
रची सौहार्दोनो मधुपुट अविश्रांत विलस्यो
अहो हयु! जेणे जीवतर तणो पंथ ज रस्यो

न के नाव्या मार्गे विष, विषम आँधार, अदया
असत् संयोगोनी, पण सहुय संजीवन थया
वन्या को संकेते कुसुम सम ते कंटक घणा,
तिरस्कारोमांये कहींथी प्रगटी गूढ करुणा
पडे द्रष्टे, डूबे कदिक शिवना राग अरुणा:
रह्यो झखी, ने ना खबर वरसो केम ज गया!

२१-७-१९५२
२१-७-१९५३

जो वर्ष बीते

बीते जो वर्ष –
पता ही न रहा कि कैसे बीते ?
स्वप्नोल्लास मे बीते, विलीन हुए मृदु करुणहास में।
ग्रहण किया आयुपथ कभी स्मितयुक्त, कभी भयभरा।
मानो सदा निद्रा मे ही डग भरता भरता
चलता रहा।
हृदय मे जो प्रणयभार जमा हुआ है,
वह क्षणभर भी न लेने देता चैन,
कार्य और काव्य मे वह प्रकट हुआ,
जगमधुरिमा पद पद पर पीकर,
सौहार्दो का मधुपट रच कर,
विलसित होता रहा अविश्रान्त।
अरे यह हृदय!
इसीने तो रसमसा दिया आयुष्यपथ।
ऐसा नही कि न मिले हों मार्ग मे
विप, विषम स्वप्न-संत्रास, असत् संयोगो की
अदया।
किन्तु सभी बन गए संजीवन;
किसी सकेत से अनेक काँटे कुसुम-से बन गए।
तिरस्कारो के मध्य मे भी कही से प्रकट हुई
गूढ करुणा।
कभी दीखते है, कभी डूबते है,
शिवत्व के वे अरुण श्रृंग :
मै तो रटता ही रहा,
और न जाने कैसे बीत गए वर्ष!

२१-७-१९५२,
२१-७-१९५३

रह्या वर्षो तेमा—

रह्या वर्षो तेमा हृदयभर सौन्दय जगनु
भला पी ले, व्होले मुख फर रत्ते, सान डगनु
क्दी लाधे जे जे मधुर रची ले सत्य अहीया,
नथी तारे माटे थई ज, निरमी 'दुष्ट' दुनिया
अहो नानारंगी अजब दुनिया! शे समजवी?
तने भोळा भावे क्रु पलटवा, जाउ पलटी,
अहंगर्तामां हा पग, उपरथी, जाय लपटी!
विसारी हुने जो वरतु, वरते तु मधुरवी —

मने आमत्रे आ मदुल तडको, दक्षिण हवा,
दिशाओना हासो, गिरिवर तणा शृग गरवा,
निशाखूणे हैये शशिकिरणनो आसव झमे,
जनोत्कर्षे-ह्लासे परम ऋतलीला अभिरमे
— बधो पी आकठ प्रणय भुवनोने कहीश हु
मळ्या वर्षो तेमा अमृत लई चाख्यो अवनिनु
२१–७–१९५२
२१–७–१९५३

जो वर्ष रहे उनमें

जो वर्ष रहे उनमे
हृदयभर पी ले जगत् का सौन्दर्य भाई।
मुँह लटकाये न फिर।
सप्तपद का सख्य—
यहाँ जब कभी मिल जाय
तो तू उसे मधुरतम बना ले!
भाई, तेरे ही लिए यह दुनिया 'दुष्ट' नही बनाई गई।
— अहो! नानारंगी अजीब दुनिया! कैसे समझा जाए तुझे?
भोलेपन से मै तुझे पलटने का प्रयत्न करता हूँ
और पलट जाता हूँ मै!!
तिस पर अहंगर्ता मे, हाँ, पैर फिसल जाता है!
पर अगर मै 'मै' को भूल कर व्यवहार करूँ
तो तू कितनी मधुरता से बाज आती!—

मुझे निमन्त्रित कर रहे है—
वह मृदुल धूप, दक्षिण हवा,
दिशाओ के हास, गिरिवरो के गौरवमय शृंग,
रात्रि के किसी कोने मे हृदय मे
शशि-किरणो के आसव की फुहार!
जन-उत्कर्ष मे, ह्रास में परम ऋतलीला हो
विलसित हो रही है।

सारी स्नेह-सुषमा को आकंठ पीकर
भुवनों से यह कहूँगा:
वर्ष जो प्राप्त हुए उनमे
अमृत ले आया अवनि का!!

२१-७-१९५२,
२१-७-१९५३

‘अभिज्ञा’ से

छिनभिन्न छु

छिनभिन्न छु
निश्छद कवितामा धवक्या करता लय समा,
मानवजातिना जीवनपट पर रूपसवा मयती काई भात जेवो,
घरघर पडेल हजी नव हाथ लाग्या भिश्चुकना टुक जेम,
विच्छिन्न छु

काण बोली? कोकिला के?
जाणे स्वीच् ऑफ करी दउ
तरुघटामा गाजतो आ बुलबुलाट
कुदरतना शु रेडियोना
सास्कृतिक का कार्यक्रम!
चाप वध करी दऊ? शु करु एने हु?
        वसतपचमी केम आवी ने केम गई,
        मने खबर सरखी ना रही!

प्रकृति, तु शु करे?
मारी प्रकृतिनो ज ज्या रामायण छे
मानी लीधेली एकता व्यक्तित्वनी
शतखड त्रुटित म नजरानजर देखी लीधी छे

रागमर्ति, द्वेपमूर्ति, भयमूर्ति —
त्रिमूर्तिए घाट देवा बह कीधु
        तमारे स्मरणे रुधिर नाची ऊठ्यु,
        तमारे दर्शे हृदय राची ऊठ्यु,
        ने विरहमा बस मरण याची ऊठ्यु,
            तमे मारी झखनानु मधुर प्रेयोरूप
                        रागमर्ति, नमोनमो!

छिन्नभिन्न हूँ

छिन्नभिन्न हूँ ।
निश्छन्द कविता मे धड़कने को करती लय-सा,
मानवजाति के जीवन-पट पर उभरने को यत्न करती
किसी रेखान्विति-सा,
घर घर पड़े अभी तक न हाथ लगे भिक्षुक के टूक समान
— विच्छिन्न हूँ ।

कौन बोली ? कोकिला क्या ?
चाहता स्विच् ऑफ् कर दूँ ।
तरुघटा मे गूँजती यह बुलबुलाहट —
प्रकृति के रेडियो का
क्या सांस्कृतिक कोई कार्यक्रम ?
कल वन्द कर दूँ क्या ? क्या करूँ इसे मै ?
वसन्त पंचमी कैसे आई और कैसे गई,
मुझे ख़बर तक न रही ।

प्रकृति, क्या करे तू ?
मेरी ही प्रकृति का जहाँ झमेला है ।
मानी हुई एकता व्यक्तित्व की
शतखंड त्रुटित प्रत्यक्ष मैंने देख ली है ।

रागमुर्ति, द्वेषमूर्ति, भयमूर्ति —
त्रिमूर्तिने आकार गढ़ने के लिए वहुत किया ।

तुम्हारे स्मरण से रक्त नाच उठा,
तुम्हारे दर्शन से हृदय राच उठा,
और विरह मे मरण याच उठा,
तुम मेरी कामना के मधुर प्रेयोरूप
रागमूर्ति, नमो नमो !

तमे मारी वासनानु कालपट विरूप,
आखनी प्याली मही उछळेल अग्निरूप,
ऊडेल श्वासोच्छवास साथे दग्ध हैयाधूप,
तमारा स्पर्शे नयन-पक्ष्मो विखूटा —
द्वेषमूर्ति, नमोनमो !
तमारा शव-आश्लेषथी शीत छूट्या,
हीर हैया तणा छेक सुकाई खूट्या,
चेतनास्पंदनो मंद आक्रंद-डूब्या,
तमे मारी कामनानो नग्न निश्छल छंद —
भयमूर्ति, नमोनमो !

एक-केंद्र व्यक्तित्व करवा मथ्या तमे मारे माटे
अने दीक्षा आपी प्रेमधमनी,
जेना वखगधनेये पामवानु केमे करी
फावतु नथी हजीय
ने छताय गाडु आ गबडे छे,
किचूड खट-चू किचूड-चू खट
जुओ पेला मारा प्रियतम श्रीमानने
प्रेम द्वारा चाहता नथी आवडतु एमने,
धिक्कार द्वारा ज चाहता फावे छे भला जीवने
भले एम तो एम, झघडवानो समय क्या छे ?
तमारी शरते चाहीश तमने
अने आ रह्या मारा द्वितीय हृदय
पोतानी पामरताथी खरडे छे बहुने,
पोतानी वकाई थकी मरडे छे सहुने
अरे एथी सारी रीते वर्तवु एने शक्य हात,
तो आ रीते कोई कदी वर्ततुय हशे खरु के ?

तुम मेरी वासना के कालकूट विरूप,
आँख की प्याली मे उछले अग्निकूप,
उड़ी हुई श्वासोच्छ्वास के साथ दग्ध हृदय-धूप
तुम्हारे स्पर्श से नयन-पलके वियुक्त—
द्वेषमूर्ति, नमो नमो !

तुम्हारे शव-आश्लेष से छूटे शीत,
सत्त्व हिये के सारे सूख कर चुक गए,
चेतना-स्पन्द मंद, आक्रन्द-डूबे,
तुम मेरी कामना के नग्न निश्चल छन्द—
भयमूर्ति, नमो नमो !

एककेन्द्र व्यक्तित्व को करने जूझे तुम मेरे लिए
और दीक्षा दी प्रेमधर्म की,
जिसके क ख ग घ को सीखने का यत्न भी करूँ,
पर जमता नही अब भी ।

और फिर भी यह गाडी लुढकती चलती है
किचूड-खट-चूं किचूड़-चूं-खट् ।

देखिए मेरे उन प्रियतम श्रीमान को,
प्रेम द्वारा चाहना आता नही जिन्हे,
धिक्कार द्वारा ही चाहना अनुकूल है भले जीव को ।
एसा तो ऐसा ही सही, झगड़ने का समय कहाँ ?
तुम्हारी ही शर्त पर चाहूँगा तुम्हें ।

और ये है मेरे द्वितीयहृदय,
स्वयं की पामरता से रगड़ते है बहुतो को
स्वयं के टेढ़ेपन से मरोड़ते है सभी को ।

अरे, इससे अच्छी रीति से व्यवहार करना
इनके लिए शक्य होता,
तो, इस प्रकार भला कोई कभी बरतता क्या ?

ने ओ पेला भूतपूव   मारा
अपूव अनुभव थयो एमना निमित्ते
वारवार रटया कर्यु मारा मने
   तमने धिक्कारवानो मने फरज नहि पाडी शको
   कदीय धिक्कारी शकाय, एक वार चाह्यु जेने ?
अरे, तु तो दुनियाने काई ज समजतो नथी !
— कहे छे अनेक मने
वीजा कहे दुनियानो छेक ज छे जीव तु
हा, दुनियानो शिष्य छु हु
दुनिया तो दुनियादारीमा मानती नथी ज नथी
नथी एणे याद राख्या कोटिपति,
सफळताना शहीदोने नथी ते सभारती
मोटामोटा थईने जेओ फर्या'ता तेनेय
विस्मतिनी राख नीचे ढबूरी दीधा छे एणे
दुनिया दुनियादारीमा मानती जो होत तो तो
कविओने, पागल पेला प्रेमीओने, सतोने
सभारत क्षणेय शा माटे ?
सभारे न सभारे कोई एनी तथा शाने ?
स्मृति ? हा स्मृति ए ज तो जीवन छे
आ पृथ्वीना पड ते चिरतन टक्शे, ने आ उष्मा
हृदय तणी ते विफळ विखरशे ?
ना, ना, ना ! सूयने गरम राखवामा ए जरी जरीक शो
सहारो देशे,
हृदयहृदयना धबकारे ते पुनर्जीवती त्रिभुवनदिग्विजयी
सचरशे

कोण जाणे ?
अटाणे तो धबको आ एक पछी एक ओछो
थतो जाय

और वे भूतपूर्व . . . मेरे।
अपूर्व अनुभव हुआ इनके निमित्त ।
वार वार रटता रहा मेरा मन :

तुम्हे धिक्कारने को मजबूर नही कर सकोगे मुझे।
धिक्कार सकते है क्या कभी एक बार चाहा जिसे ?

अरे तू तो दुनिया को कुछ समझता ही नही !
—कहते है अनेक मुझे;
अन्य कहते : ठेठ दुनियाका हो जीव है तू ।
हाँ, दुनिया का शिष्य हूँ मै ।
दुनिया तो दुनियादारी में मानती हा नही !
नही इसने याद रखे कोटिपति,
सफलता के शहीदो को नही यह याद करती।
वड़े वड़े होकर जो घूमे थे उनको
विस्मृति की राख के नोचे ढंक कर सुला दिया इसने।
दुनिया यदि दुनियादारी मे मानती होती —
कवियों को, पागल उन प्रेमियो को, सन्तों को
स्मरण करती क्षण मात्र भो क्यों ?

स्मरण करे या न करे कोई, इसकी सोच क्यों ?
स्मृति ? हाँ स्मृति ही तो जीवन है।
इस पृथ्वी की तहें चिरन्तन टिकेंगी
और यह उष्मा हृदय की विफल विखरेगी ?
ना, ना, ना, सूर्य को गरम रखने मे यह जरा
जरा-सा भी सहारा देगी
हृदय-हृदय के स्पन्दनो मे वह पुनर्जीवित होती
संचरेगी त्रिभुवन-दिग्विजयिनो ?

कौन जाने ?
इस समय तो धड़कनें एकके बाद एक कम हो रहीं।

अनतोक्रण एनु शकश हशे ? जाय —
वैशाखी खाखी लू लीला वरसे आकाशथी त्या
पुल पर थई जाय — सरो जाय बस
गॉगल्स-आखो चिंतनमा डूबेलोय ते होय तोये
नीचेथी, सावर, तारु पातळुक झरणु
— आनन्त्य मृगजळ प्रति दोट देतु भोळक्डु हरणु —
ए क्षीण प्रवाह-पटीनो टाढकनो धार
पुल वीधी वशाखी दोजख मही आरपार
मारा चैतन्यने अडे ने ठारे अघक्षण
दोट दई रहेली बस फरी थाय आहुति
ग्रीष्मना लू-यज्ञनी ज्वाळाओ मही ते पहेला
मारा लघु हैयानी आ अजाणी धबक
एटलु जो करी शके ? एटलु ना करी शके ?
क्दाचने ना क्री शके तो
        दिनरात रातदिन खिन्न छु,
        एक-केन्द्र थवा मथी रहेल क्लिन्न छु,
        धबकधबकमा ऊडी रहेल छिन्नभिन्न छु

३ १९-२-१९५६

अनंतीकरण इनका क्या शक्य होगा ?
जाती है—
वैसाखी अवधूत-सी लू-लोला वरसती आकाश से इतनेमें
उस पुल पर से जाती है —
गुजर जाती है वस ।
गोगल्स-आँखे चिंतन मे डूबी हुई हों तब भी
नीचे से, साबरमती, तेरा पतला-सा झरना
—आनन्त्य मृगजल के पीछे दौडता अवोध हिरन —
वह क्षीणप्रवाह पट्टीकी ठंडक की धार,
पुल विंध कर
वैसाखी इस दोजख मे आरपार
मेरे चैतन्य को छुए और शीतल करे क्षणार्ध,
दौड़ती हुई बस
फिर आहुती बन जाए ग्रीष्म के लू-यज्ञ की
ज्वालाओं मे इसके पूर्व ।

मेरे लघु हृदय की यह अनजान धड़कन
इतना यदि कर पाए ! इतना न कर पाए ?
कदाचित् न कर पाए तो . . .

दिनरात, रातदिन खिन्न हूँ,
एककेन्द्र होने को जूझता क्लिन्न हूँ,
स्पन्द-स्पन्द मे उड़ता छिन्नभिन्न हूँ ।

३,१९-२-१९५६

शोध

पुष्पो साथे वात करवानो समय रह्यो नही
पुष्पो, पृथ्वीना भीतरनी स्वर्गिली गर्विली उत्कठा,
तेजना टापुओ, सस्थाना मानवीअरमानना,
पुष्पो, मारी कविताना ताज ब ताज शब्दो
गभमा रहेला बाळकनी बीडेली आखो
माताना च्हेरामा टमके,
मारा अस्तित्वमा एम काव्य चमक्तु तमे
जोयु छे ?

कविता, आत्मानी मातृभाषा,
मौननो देह मूर्त, आसव अस्तित्वनो,
स्वप्ननी चिर छवि क्या छे कविता ?

जोउ छु हु, दुगम छे, दुलभ छे
पृथ्वीना सौ पदार्थोमा ए पदाथ
क्यारेक तो शब्दमा ज सरस्वती लुप्त थती
क्यारेक होलवायेला हैयानी वास अक्ळावी रहे
क्यारेक वळी अधदग्ध खयालोनो धूवा गूगळावी रहे
खरे ज छे दुराप कवितापदार्थ

घरनी सामेना पेला छोड वधी वृक्ष थया
टीकीन जोया कर्या छे मे वारवार एन

एने जावु आव्या, न मने आसु,
वध्यो ने फळ्या ए, हु वध्यो फासु

खाउ छु, पीउ छु, खेलु छु, कूदु छु
व्होळो घरती मातानो खोळा आ खूदु छु
क्या छे कविता ?

प्रभुए मने पकड्या'तो एकवार
सध्याना तडकायी ए वक्षना थड रगतो'ता,

शोध

पुष्पों से बात करने का समय रहा नहो ।
पुष्प, पृथ्वी के भीतर की स्वर्गीय गर्वीली उत्कंठा;
तेज के टापू, संस्थान मानव-अरमान के;
पुष्प, मेरी कविता के ताज-ब-ताज शब्द ।

गर्भ मे रहे शिशु की मूँदी हुई आँखे
माता के चेहरे मे टिमटिमाएँ,
ऐसे, मेरे अस्तित्व मे काव्य चमकता
आपने देखा है?

कविता, आत्मा को मातृभाषा;
मौन की देह मूर्त, आसव अस्तित्व का;
स्वप्न की चिर छवि, कहाँ है कविता?

देखता हूँ दुर्गम है,
दुर्लभ है पृथ्वी के सभी पदार्थो मे यह पदार्थ।
कभी तो शब्द मे ही लुप्त होती सरस्वती।
कभी बुझे हिये की बू जगाए अकुलाहट !
कभी फिर अर्धदग्ध खयालो का धुँआ घोंटता रहे।
है ही दुराप कविता-पदार्थ ।

घर के सामने यह बिरवा बढ़ कर बन गया पेड़।
देखा किया है बारीकी से मैने इसे बार बार।
        उसको लगे जामुन, और मुझे आँसू;
        बढा और फला वह, मै बढा फालतू।
खाता हूँ, पीता हूँ, खेलता हूँ, कूदता हूँ।
धरती माता की बड़ो गोद यह रौदता हूँ।
कहाँ है कविता?

पकड़ा था ईश्वरने मुझे एक बार।
संध्या की धूप से वह रंग रहा था वृक्षों के तने,

शोध

पुष्पो साथे वात करवानो समय रह्यो नहो
पुष्पो, पृथ्वीना भीतरनी स्वर्गिली गर्विली उत्कठा,
तेजना टापुओ, सस्यानो मानवीअरमानना,
पुष्पो, मारी कविताना ताज ब-ताज शब्दो
गर्भमा रहेला बाळकनी वीडेली आखो
माताना व्हेरामा टमके,
मारा अस्तित्वमा एम काव्य चमक्तु तमे
जोयु छे?

कविता, आत्मानी मातृभाषा,
मौननो देह मूर्त, आसव अस्तित्वनो,
स्वप्ननी चिर छवि क्या छे कविता?

जोउ छु हु, दुगम छे, दुलभ छे
पृथ्वीना सौ पदार्थोमा ए पदाथ
क्यारेक तो शब्दमा ज सरस्वती लुप्त थती
क्यारेक ह्रोलवायेला हैयानी वास अक्ळावी रहे,
क्यारेक वळी अधदग्ध खयालोनो धूवा गूगळावी रहे
खरे ज छे दुराप कवितापदार्थ

घरनी सामेना पेलो छोड वधी वक्ष थयो
टीकीने जोया कर्यो छे में वारवार एने
एने जाबु आव्या, ने मने आसु,
वध्यो ने फळ्यो ए, हु वध्यो फासु
खाउ छु, पीउ छु, खेलु छु, कूदु छु
व्होळो घरती मातानो खोळो आ खूदु छु
क्या छे कविता?

प्रभुए मने पकड्यो'ता एक्वार
सध्याना तडकाथी ए वृक्षना थड रगतो'तो,

शोध

पुष्पो से बात करने का समय रहा नहीं ।
पुष्प, पृथ्वी के भीतर की स्वर्गीय गर्वीली उत्कंठा;
तेज के टापू, संस्थान मानव-अरमान के;
पुष्प, मेरी कविता के ताज-ब-ताज शब्द ।

गर्भ मे रहे शिशु की मूँदी हुई आँखें
माता के चेहरे मे टिमटिमाएँ,
ऐसे, मेरे अस्तित्व में काव्य चमकता
आपने देखा है?

कविता, आत्मा को मातृभाषा;
मौन की देह मूर्त, आसव अस्तित्व का;
स्वप्न की चिर छवि, कहाँ है कविता?

देखता हूँ दुर्गम है,
दुर्लभ है पृथ्वी के सभी पदार्थों मे यह पदार्थ ।
कभी तो शब्द मे ही लुप्त होती सरस्वती ।
कभी बुझे हिये की बू जगाए अकुलाहट !
कभी फिर अर्धदग्ध खयालों का धुँआ घोटता रहे ।
है ही दुराप कविता-पदार्थ ।

घर के सामने यह बिरवा बढ कर बन गया पेड़ ।
देखा किया है बारीकी से मैंने इसे बार बार ।
    उसको लगे जामुन, और मुझे आँसू;
    बढा और फला वह, मै बढा फालतू ।
खाता हूँ, पीता हूँ, खेलता हूँ, कूदता हूँ ।
धरती माता की बड़ो गोद यह रौंदता हूँ ।
कहाँ है कविता?

पकड़ा था ईश्वरने मुझे एक बार ।
संध्या की धूप से वह रंग रहा था वृक्षो के तने,

त्या हुये मारी आस वडे चडावतो ओप हतो
बीजो वार, गाडीमा हु जतो हतो, एकलो ज
अडधिया डब्बामा, त्या नमता पहोरना
नवु नवु युगल को प्रवेश्यु प्रभुए ताजा
नववधूना च्हेरामा गुलो छलकाव्या हता
खसी गयो बीजे त्याथी हु, ए गुलाबी छोळोमा
शरमना शेरडानी छाया आछी उठावीने
प्रभुने सौ आवु वधु पसद वहु होय एवु
लागे पण छेय ते
शाऽऽ माटे नहो तो दुनियानी भारे मोटी
कामगीरी होय एम, जाणे ए विना वधु
अटकी पडवानु न होय एम, वारे वारे
सडोवे छे कईक न कक आवामा मने ए ?
रस्ते चाल्यो जतो होउ अने कोई दूर दूर
सहस्र जोजन थकी आवेला पखोनी साथे
मुलाकात गोठवी वेसे छे मारी, पूछ्या विना
मने, कोई वाड पासे लक्षावधि
प्रकाशवर्षोथी व्योमे टमटमता तारा पासे
आख मिचकारावे छे ए आ हु जे
" अन् रोमेंटिक " तेनी सामे
शेरीमाना पेला बालुडियाने मारी सामे
खिलखिल हसावी दे छे, अयुत वर्षोने अते
प्रगटेला मानवनी आज लगीनी आखीय
यात्रानी – भावी आकाक्षानी पताका लहेरावी

मै भी वहाँ अपनी आँखों से पोत रहा था ओप ।
दूसरी बार, गाड़ी में जा रहा था मैं,
अकेला ही छोटे डिब्बे में,
तभी ढलते प्रहर के समय
नए-नए किसी युगल ने प्रवेश किया ।
ईश्वरने नववधू के चेहरे पर ताजा गुल छलकाये थे ।
खिसक गया वहाँ से मैं,
उन गुलाबी तरंगों में,
लज्जा की लाली की छाया बारीक उभार कर ।

ईश्वर को सब ऐसा-वैसा पसंद बहुत हो
ऐसा लगता भी तो है ।
नही तो ज्यों दुनिया की बहुत बड़ी
जिम्मेदारी हो,
मानो इसके सिवा जैसे सब कुछ
थम जानेवाला हो,
बार बार वह कुछ न कुछ घसीटता
है मुझे क्योऽऽ इन सबमे ?

चला जा रहा होऊँ रास्ते पर
और सहस्रयोजन की दूरी से आए हुए
किसी पंछी से मुलाकात पक्की कर देता है मेरी,
बिना पूछे मुझसे, किसी बाड़े के पास ।
लक्षावधि प्रकाशवर्षों से टिमटिमाते
तारक द्वारा आँख-मिचौनी करवा लेता है वह
मुझ जैसे ‘ अन्–रोमान्टिक ’ के साथ ।
गली के उस नन्हे बालक को मेरी ओर
खिलखिला कर हँसा देता है,
अयुत वर्षों के बाद प्रकट मानव की
आज तक की सारी यात्रा की—

दे छे ए नाजुक कलहास्यमा विजयभेर
रे रे शिशुओन कलहास्य माणवानो समय रह्यो नही
शिशुओनु हास्य, मारी कवितानो शुभ्र छद
शब्द छे! छे छद पण! क्या छे ता कविता?
शिखरा पर ऊर्ध्वबाहु आरडे महानुभावो,
शताब्दीथी शताब्दी सुधी प्होचतो बुलद स्वर,
ऊतरे ना अतरमा, क्षमे ना जरीय चित्ते
खीणो भरी गोरभातो भूतकाळनो ए ध्वनि,
पडघा करे पडछदा निरतर अविरत
पडघानो देश आ, शब्द नहो, प्रतिशब्द पुजातो ज्या
प्रतिध्वनिथी बधिर बनी गया कान कई
एकमेकनु न केमे सुणवा पामे, कदीक
बोलवा करे जरी तो

—नथी माग अन्य, वहो
जाय पणे उरोगामी सरिता धीरेथी, निज
कलकल्लोलधूने मस्त, तेम सरी जवु
मळी जाय यात्री तेने अपवु हृदयगीत —
क्यारे वळी अहम् नडे—कनडे छे, हैयु कहे
शीद गाउ? सुखना ओडकार आना,
पेलानो प्रेम, अने अन्यना उल्लासकेफ!

भावी आकांक्षा की — पताका फहरा देता है
उस नाजुक कलहास्य मे विजय के साथ ।
अरे, शिशुओ के कलहास्य से
आनंदित होने का समय रहा नही ।
शिशुओं का हास्य, मेरी कविता का शुभ्र छंद ।
शब्द है! है छंद भी! तो कहाँ है कविता?
शिखरों पर चीखते ऊर्ध्वबाहु महानुभाव,
शताब्दी से शताब्दी तक पहुँचता बुलंद स्वर,
उतरता नहीं भीतर,
रिसता नही जरा भी चित्त मे ।
घाटियाँ भर कर मँडराती-गूँजती
भूतकाल की वह ध्वनि,
पड़ती रहे प्रतिध्वनियाँ निरंतर अविरत ।
देश यह प्रतिध्वनियो का;
जहाँ शब्द की नही, प्रतिशब्द की पूजा होती ।
प्रतिध्वनि से बधिर हो गये कान,
कभी बोलने का यदि यत्न किया जरा भी तो
एक-दूसरे को सुनने न पाएँ ।
—नहीं है अन्य मार्ग,
बही जा रही वहाँ उरोगामी सरिता धीरे से,
कल-कल्लोल-धुन मे मस्त,
ऐसे ही सरकते जाना ।
मिल जाए जो यात्री उसे अर्पित करना हृदयगीत। —
कभी फिर अहम् बनता है बाधारूप —
सताता है;
कहता हृदय: क्यों गाऊँ?
सुखबोध इसका,
उसका प्रेम,

मारे बस गावानु ज ? उच्छिष्ट जे बीजाओना
जीवननु, शब्दोमा सचय करीने तेनो
कृतार्थ थवानु मारे ?
कविजीवन अरेरे शु उप-जीवन ?

अरे ! अरे !
अहना भरडामा आव्यु ए ज क ओछु,जीवन छे ?
जीवन तो ते, जे के थयु आत्मसात् आत्मरूप
आ आखो जे जुए छे एटलु ज शु ए जुए छे ?
तो तो ते कशु ज नथी जोती आखो आधळी छे
पला वृक्षो, छुट्टा, लीला पल्लवे घेघर डोले,
केवा छे मजाना ! गमी जाय एवा छे ! परतु
एक वेळा अही आ एक स्थळेथी जोवाई जता
ए बधा अनोखी कोई एक-रचनामा गोठवाई गया
वृक्षो न रह्या, वृक्षमय कशुक लोकोत्तर सत्त्व,
मात्र त्या फेलाई रह्यु — ए ज तो सौदय —
आख, तें ए जोयु ? आज सुधी का न जोयु तें ए ?
आख द्वारा कोईके ए जोयु
आखमा ए कोईक हतु अने ते आ पळे व्हार
कूदो शु रेलाई रह्यु ?
ए क्षणाध तो हु नर्यो वृक्ष-रचना-मय हतो
तदात्म हु एम सर्व विश्वना पदाथ थकी
थई तो शकु ज किंतु शी रीते ए हशे साध्य ?

और अन्य के उल्लास-कैफ!
मुझे केवल गाना ही?
उच्छिष्ट जो दूसरो के जीवन का,
शब्दों में संचित करके होना मुझे उसका कृतार्थ?
कवि-जीवन अरे रे क्या उप-जीवन?

अरे! अरे!
अहं के जरठ दबाव मे जो आ पाया
क्या केवल वही है जीवन?
जीवन तो वह, जो कुछ हुआ आत्मगत, आत्मरूप।
ये आँखे जो देखती हैं इतना ही क्या वे देखती हैं?
तब तो वे फिर कुछ भी नही देखतीं,
अंधी है आँखें।

वे वृक्ष, छुट्टे, हरे पल्लवों से डोलते छतनार,
कैसे प्यारे है! पसंद आ जाएँ ऐसे है!
परंतु एक वार यहाँ इस एक स्थल मे दिखाई देने पर
अनूठी किसी एक-रचना मे ढल गए वे सब।
न रहे वृक्ष, वृक्षमय कोई लोकोत्तर सत्त्व ही
वहाँ व्याप्त हो रहा,—यही तो सौन्दर्य है।—
आँख, देखा यह तूने?
आज तक क्यों नही देखा!
आँख द्वारा किसी औरने देखा यह।
आँख मे था कोई और जो इसी पल
बाहर कूद कर बह चला कैसा?
उस क्षणार्ध के लिए तो मै था निरा
वृक्ष-रचना-मय।
विश्व के सर्व पदार्थो के साथ
तदात्म मै ऐसे, हो सकता ही हूँ,
किन्तु कैसे हो सकता होगा वह साध्य?

सौन्दर्यानुभूति द्वारा,
कविता द्वारा अमाप
सौन्दर्यनी सेर छन्द शब्द मां हुं ऊपसेलो
जाया कर, पुष्पो अने शिशुक-हास्य तणा
परिचये मंच,
दरातो न-देरातो ते हायताळो दई, मारा
रोल्या करे अहा सताकूकडी चैतन्य साथे
अह्वारान

राते रस्ताना वळांके माटरनी रोशनीए
अजवाळी दीधु एक वृद्ध नानी गोरीओनु
उत्सवथी यळतु जे, वर्षाभोजी माडी साजे,
पडसेना वृद्ध जाई रह्या विस्फारित नेत्रे
भविष्यनु ते निर्मल सबल आशारहस्य
फेलायेलु मुग्ध निज दृष्टिनी समक्ष तहीं

कन्याओना आशा-उल्लास वधाववानो समय रह्यो नहीं
कन्याओनी आशा, मारी कवितानी नसानु रुधिर
क्या ?—क्या छे कविता ?
७-२-१९५९

सौन्दर्यानुभूति द्वारा,
कविता द्वारा अमोघ ।
सौन्दर्य की लड़ी छंद-शब्द में उभरी हुई
देखना चाहूँ मैं,
पुष्प और शिशु-कलहास्य से
अपने कुछ परिचय के बूते पर;
दीखती न दीखती और सफ़ाई से सरक जाती,
खेला करे मेरे चैतन्य के साथ
आँख-मिचौनी वह दिनरात ।

रात के समय रास्ते के मोड़ पर
मोटरकार की रोशनी ने उजागर कर दिया
गौरियों का एक वृन्द,
उत्सव से लौट कर आ रहा था जो,
वर्षा भीगी शामको देरी से;
पार्श्व में वृद्ध देखते रहे विस्फारित नेत्रो से
भविष्य का वह निर्मल सकल आशा-रहस्य
फैला हुआ मुग्ध अपनी दृष्टि के समक्ष वहाँ ।

कन्याओं के आशा-उल्लास की वधाई के लिए
समय रहा नही ।
कन्याओं की आशा, मेरी कविता की नसों का रुधिर ।
कहाँ ? — कहाँ है कविता ?

७-२-१९५९

शिशु

तरवरे छे आखनी सपाटी पर जीव
बोलुबोलु थतो,
जगतने स्पर्शवा मथतो

जगना पदार्थो अवाजो मनुष्यो सुधीना अतरो
पामी शके ना, तरवरे कीकी-सपाटी पर
आ म ते म

क्षणमा केटले ऊडे अदर दूर पहोची जाय
सुगम ए तो अरे एने,
शब्दना अचळा नीचे छुपावु शकच ना जेने
अतळ ऊडाण सुगम एने जे
नवाण ए जीवत रहेशे वाण ज्यारे फूटशे ?

१२-४-१९६५

शिशु

तैरता-झलकता आँख की सतह पर जीव
बोलने–बोलने को होता,
जगत को छूने को मचलता ।

जग के पदार्थो, आवाजों, मनुष्यों
तक की दूरियाँ
वह आँक नही पाता,
तरलायित उसकी पुतली
इधर-उधर ।

क्षण में कितने गहरे भीतर, दूर पहुँच जाता है
सुगम है वह तो उसे,
शब्द के आवरण के नीचे छिपना
शक्य नही जिसके लिए ।
उसे सुगम है जिसकी अतल गहराई
वह निधि बचा रहेगा क्या जब फूटेगी वाणी ?

१२-४-१९६५

गाडी घणा गाउ कापे

गाडी घणा गाउ कापे
घर वधा रही जाय
मारगनी कोरे
उतारुने ठालवे को एवा ठामे
—जे तो नही कोईनुये घर,
ज्याथी रह्या दूर दूर घर
पग कापे खास्तु तो अतर,
लई जाय ऊभु छे ज्या घर
अरे तोय शुय छेटु रही जाय,
घरना ए मानवीथी
आख ठीक जोई तो ले च्हेरो,
पण सामे भटकाय म्होरो,
अथवा तो पोते ज पोतानी पीछीथी
रगी दे म्होरो ए च्हेरा परे
भीतरना कमाड ऊघडे न ऊघडे त्या धडाक भिडाई जाय,
आखोना गोख मही
तिराडनो आरपार जरीक देखाई जाय
अमाप अतर
गाडो घणा गाउ कापे,
घर वधा रही जाय
मारगनी कोरे
३-२-१९६६

गाड़ी कितने ही कोस काटे

गाड़ी कितने ही कोस काटे,
घर तमाम रह जाते,
मारग की कोर पर ।

ऐसे स्थान उतारती यात्रियों को
—जो नही किसी का भी घर,
जहाँ से रहे दूर-दूर घर ।

पैर काटते काफी दूरी,
ले जाते खड़ा है जहाँ घर ।
अरे, फिर भी कैसी तो दूरी रह जाती है
घर के उन लोगों से ।

आँख ठीक से देख लेती है चेहरा,
किन्तु सामने टकराता मुखौटा,
या तो खुद ही अपनी कूँची से
रँग देती है मुखौटा उस चेहरे पर ।
भीतर के किवाड़ खुलें न खुलें
इतने मे धड़ाक-से भिड़ जाते,
आँखों के ताख में
दरार के आरपार तनिक दीख जाती
अमाप दूरी. . . .

गाड़ी कितने ही कोस काटे,
घर तमाम रह जाते
मारग की कोर पर ।

३-२-१९६६

राजस्थानमा पसार थता

वारी वहार छूटी धसी दष्टि
अहो मोकळाश!
भाई, बेसो जगा छे, गाडी छे बधानी
हाश।
गडड गडड! गडड गडड!—गडे गाडी
दष्टि मारी बारी व्हार नासी छूटी धसी

मनडु आ अखूट वेरान वनो जाय
सकल्पविकल्प बधा छूटा घेटा समा
हेठा श्वासे धरतीना हो-न-हो ते तृण
खेंची काढे चर्या करे

ओहो! पेलो दूर डोकायो डुगर
चित्त अढेलीने एने थयु जीव-भर
धारेधारे चढी जई ऊचेरा शिखर पर
मदिर-ध्वजाए थरकी रह्यु फरफर
फरकी रह्यु थरथर

? पाणी ढळ्यु लई लो सामान ऊचो!
ढळी गयो काचो कूजो!
रणमा पाणीना भला दर्शन करावी गयो
गडड गडड! गडड गडड!—गडे गाडी

पाणी? पाणी तो अहो पाताळकूवे, अथवा ते
ओ पणे अकारो, ज्या
काळमीढ खडकोनी भीतो
माये गढ, जाणे
उगामेली मुक्की आ भॅंकार धराए
पाणीनी अचूक दीपे ए ऍंधाणी

राजस्थान से गुज़रते हुए

खिड़की से बाहर छूट कर बढ गई दृष्टि ।
अहो कैसा खुलापन !
...भाई, बैठो, जगह है, गाड़ी तो है सब की ।
हाश् !
गडड गडड ! गडड गडड ! गड रही गाड़ी ।
दृष्टि मेरी खिड़की से बाहर छूटती भागती बढ़ गई ।

मन यह अखूट वीरान बन जाता है,
संकल्प-विकल्प सब छूटे भेड़ों-से
हलकी साँस से धरती के हों-न-हों उन तृणों को
खींच कर चरते रहते ।

ओहो ! दूर वह झाँक पड़ा डूँगर ।
चित्त उसे टेक कर हुआ सचेत,
उसकी धार-धार के सहारे चढ कर ऊँचे शिखर पर
मंदिर-ध्वजा के साथ
थिरक रहा फरफर
फहराता थरथर ।

...पानी ढुलक गया ? ले लो सामान ऊँचे,
कच्चा कूजा फिसक गया !
मरु मे पानी का भला दर्शन करा गया
गडड-गडड ! गडड गडड ! गडती गाड़ी ।

पानी ? पानी तो यहाँ पातालकुएँ में अथवा तो
पानी वहाँ आकाश में, जहाँ
कालजड चट्टानों की दीवारें,
सिर पर गढ़, मानो
उठाया हो मुक्का इस भयंकर धरा ने,
पानी की अचूक चमकती है यह पहचान !

जो जो पेला बुरजे

सन्ध्यानी रंगीन चिताए

झळाझळा ऊभी को पद्मिनीओ

झाकी रही शाश्वतीना हैयानी सिंदूर-ज्वाला

सन्ध्याये शमी, अंधकार-रणे

चेतनना रेला समी रेल लवाये आ जती —

जाणे पळ पछी पळ

ऊंट खेंचे हळ

चासे चासे धरती आ पडखु बदली रही

आवी रात, वेरती मुठ्ठी भरी तारा,

प्रभुनी फसल, हवे जोईए, केवीक हशे

गडड गडड ! गडड गडड ! — गडे गाडी

२४-९-१९६३

देखो, देखो उस दूर के बुर्ज पर
संध्या की रंगीन चिता मे
झिलमिलाती खड़ी कोई पद्मिनियाँ
झाँक रही है शाश्वती के हिये की सिंदूर-ज्वाला ।

संध्या भी शमित हुई, अंधकार के मरु मे
चेतन के रेले-जैसी रेल बढ़ती जाती है यह
मानो पल पीछे पल
ऊँट खीचे हल :
मेड़ मेड़ में धरती यह करवट बदल रही ।
आई रात, बिखेरती मुट्‌ठीभर तारे;
प्रभु की फसल, देखें अब कैसी होगी ।
गडड गडड ! गडड गडड ! गड रही गाड़ी ।

२४-९-१९६३

भीतरी दुश्मन

जई चढयो हु एकदिन को सुज्ञ गुणिजननी क्ने
ना क्षमा हु करी शकीश कदीय मारी जातनें, –
लाग्यो हु पढवा काव्य शदेशब्दनी वच्चे धसे
हैयामहीथी मौनसागरना तरगो
ऊछळी आवी मने ए शा हुसे!
ने ऊपटी सौ जाय ऊघडता ज जाणे काव्यरगो
शो क्षोभ मुज!
ने रसज्ञ समक्ष काव्य पढवे जवानो लोभ मुज!
केम किंतु अवाज मारो लागतो मुजने ज खोटो?
मुख थकी वाच्ये जतो, ने अथनो
मारा ज मनमा वळे गोटो!
शी शब्दनी अघऊखडी पाखो
ने शी व्यजनानी अधनीदरघेरी आखो!
मानवहृदयना अतल अति ऊडाणमा लेवा मथे जे ताग,
ते छद खाली हाय आवी व्हार डोले मणिविनाना नाग
पद्यलयनो धनुर्दोरीया तरल छटेल
कल्पनाशर शिथिलगति अवकाशमा रहे स्वैर करतु स्हेल
ने पवन जाणे पडी न गयेल हो,
काव्यपाठ थई जता शढ जेम हा ढीला-व्हीला
रसज्ञ, जेनी रगेरगे युगयुगतणी-उरउरतणी कविता

भीतरी शत्रु

जा पहुँचा मैं एक दिन
किसी सुज्ञ गुणीजन के पास,
नही कर पाऊँगा क्षमा कभी मै अपने आपको, —
सुनाने लगा मै कविता. . . .
शब्द-शब्द के बीच आ धँसती
हृदय में से मौन सागर की तरंगें ।
उछल आती वे, मेरी कैसी हँसी उड़ाती !
और उड जाते मानो सब उघड़ते ही काव्यरंग ।
कैसा क्षोभ मेरा !
और रसज्ञ के समक्ष कविता पढ़ते जाने का लोभ मेरा !
किन्तु क्यो आवाज अपनी लगती मुझको ही खोटी ?
मुँह से पढता जाता,
और मेरे ही मन मे जगता अर्थ का असमंजस !
शब्द के कैसे अधखुले पंख
और कैसी व्यंजनाकी अधनीद-छाई आँखे !
मानव हृदय की अतल गहराइयो मे
लेना चाहे जो थाह,
वे छंद खाली हाथ आकर बाहर
डोलते बिना मणि के ज्यों नाग ।
पद्यलय की प्रत्यंचा से तरल छूटे कल्पना-शर
शिथिल गति, अवकाश मे
करते रहे स्वच्छन्द सैर ।
और हवा जैसे गिर गई हो, —
काव्य-पाठ हो जाता पाल-सा ढीला ।
रसज्ञ, जिसकी रग-रग मे
युग-युग की—उर-उर की कविता

(कविता —
धरा पर अमृत सरिता)
मृदु स्पदन करे,
ते एम स्हेजे केम अभिनदन करे
मुज मत्त मौन-विडबनाशा कवननु ?
ते दीधो दहेशत मने
काव्य मारु वाचता मारी कने
भीतरो दुश्मन
करतो रहे क्षणक्षण निरीक्षण
३० ३ १९५५

शब्द

मौन, तारो ताग लेवा
शब्द थई दउ काळजळमा
डूबकी ।
हीरोशीमा जतां गाडीमां
११-९-१९५७

(कविता–
धरा पर अमृतसरिता)
मृदु स्पंदन करती,
वह यों ही कैसे अभिनन्दित करे
मेरे मत्त मौन-विडम्बन-से शब्द को ?
उस दिन से दहशत मुझे
काव्य अपना पढ़ते अपने ही समक्ष;
भीतरी शत्रु
करता रहता क्षण-क्षण निरीक्षण ।
२०–३–१९५५

शब्द

मौन,
तेरी थाह लेने को
शब्द बन कर लगाऊँ डुबकी
कालजल मे ।
हीरोशीमा जाते हुए ट्रेनमें
११–९–१९५७

चोखूणियु मारु खेतर

चोखूणियु मारु खेतर नानु,
कागळनु एक पानु
वावाझोडु कोई क्षणथी आव्युं,
क्षणनु बीज त्यां वाव्यु

कल्पना केरा पीने रसायण
बीज गळी गयु छेक
शब्दना अंकुर फूटचा, सुपल्लव-
पुष्पना लच्यो विशेष

झूम्या-झूम्या फळ, रस अलौकिक
अमृतधाराओ फूटे
वावणी क्षणनी, लणो अनंतता
लूटता लेश न खूटे

रसनु अक्षयपात्र सदानु
चोखूणियु मारु खेतर नानु
१२-४-१९६५

छोटा मेरा खेत

छोटा मेरा खेत चौकोना
कागज का एक पन्ना,
कोई अंधड कहीसे आया
क्षण का बीज वहाँ बोया गया ।

कल्पना के रसायनों को पी
बीज गल गया निःशेष;
शब्द के अंकुर फूटे,
पल्लव-पुष्पों से नमित हुआ विशेष ।

झूमने लगे फल,
रस अलौकिक,
अमृत धाराएँ फूटतो ।
रोपाई क्षण की,
कटाई अनंतता की
लुटते रहने से जरा भी नहो कम होती ।

रस का अक्षय पात्र सदा का
छोटा मेरा खेत चौकोना ।

१२-४-१९६५

दूधसागर गोवा

[कालिदास प्रति]

रम्याणि वीक्ष्य, कवि, याद तमारी आवे
आ दूधसागर तमे नीरख्यो हशे शु ?
गोमान्तके गिरि तणा शिखरे छवायली
लीलोतरी मखमली चरती, मुदायी
वागोळती रही रही अवकाशधेनु,
तेनी समुच्छलत दूधनी धार जेवो
आ धोध धय शु बन्यो तम दृष्टिए हशे ?
एके न स्थान कवि, भारतनु सलूणु,
सौन्दर्यतीथ नव एक, न जे तमारी
दृष्टे वयु पुनित ना, कवितासुधाना
अर्घ्ये तमे न अथवा क्दी जे वधाव्यु
आनन्त्यना पथिक, भारतनी निसर्ग-
श्रीने गिरा-मधुपटे चिर सचनार,
छो अग्रयायी सहु भारतयात्रिकोना,
छो वदनाह सहु भारतप्रेमिकोना
आ धोध छो नव तमे क्दी हो निहाळ्यो,
ना, ना तथापि तमथी जरी ए अजाण्या, —

दूधसागर : गोवा

[कालिदास के प्रति]

रम्याणि वीक्ष्य, कवि, याद तुम्हारी आती :
यह दूधसागर तुमने देखा होगा क्या?
गोमान्तक मे गिरि के शिखरो पर
मखमली हरियाली चरती समुद
जुगाली करती
रह रह कर महाकाश-धेनु,
उसकी समुच्छलित दूध की धारा-सा
यह प्रपात
धन्य हुआ होगा तुम्हारी दृष्टि से?

एक भी ऐसा नहीं है स्थान सलोना,
हे कवि,
नही एक भी ऐसा सौन्दर्यतीर्थ,
जो तुम्हारी दृष्टि से पुनीत न हुआ हो।
या जिसका तुमने कभी स्वागत न किया हो
कविता-सुधा के अर्घ्य से।
अनंत के पथिक,
भारत की निसर्ग-श्री को
गिरा के चिर मधुछत्ते मे संगृहीत करनेवाले,
हे अग्रयायी सभी भारत-यात्रियो के,
तुम हो वंदनार्ह सभी भारत-प्रेमिकों के।
यह प्रपात भले ही तुमने कभी न देखा हो,
तो भी नही रहा यह तुमसे थोड़ा भी अनजाना !—

आ दूधसागर अदोठ झिलाई जेह
स्वर्लोकथी, वनजटा थकी छूटतो जे
धूळी रह्यो, प्रकृतिनो थडक्त प्राण
उल्लासतो अमृतशुभ्र, हसावी र्‌हेतो
लोके युगोयुगथी भारतभाग्य सौम्य,
—शुं कालिदासकविनो कविता स्वयं आ?
रम्यो निहाळी, कवि, याद तमारी आवे
११-६-१९६३

यह दूधसागर . . .
लपक लिया स्वर्लोक से
वनजटा से छूटकर झूलता रहता,
प्रकृति के धड़कते उल्लसित प्राणों सा
अमृतशुभ्र
सस्मित करता है इस लोक मे
युगो-युगो से भारत भाग्य सौम्य;
—क्या कालिदास कवि की कविता ही स्वयं है यह?

रम्यो को देख कर
कवि,
याद तुम्हारी आती!

११-६-१९६३

परकायाप्रवेशे जे सहज निपुण तोये
न्यारो ने न्यारो सदाना, शोधी वळो चारे खूणे,
प्रभुनो जेम ज निज सृष्टिमां जडे न-जडे

नाट्य तारा मानवनी आत्मकथा, कवि !
मृत्युशील संसारनी अमृताभिषिक्त छबी

चतुर्थ जन्मशताब्दी
२३-४-१९६४

नागासाकीमां

मानव आत्मा पर फटफोला
नळिया पर ऊपस्या परपोटा
नागासाकीमां !

१३-८-१९५७

परकाया-प्रवेश में जो सहज ही निपुण है
फिर भी सदाके लिए न्यारा का न्यारा,
खोज लो चाहे चारों ओर;
प्रभु की तरह,
अपनी सृष्टि मे मिले न मिले ।
कवि,
तेरे नाटच है
मनुष्य की आत्मकथा,
है मृत्युशील संसार की अमृताभिषिक्त छवि ।

चतुर्थ जन्मशताब्दी २३-४-१९६४

नागासाकी मे

मनुष्य की आत्मा पर फफोले :
खपरैल पर उभर आए बुलबुले
नागासाकी मे ।

१२-८-१९५७

रवीन्द्रनाथ

१

उषा अमृत-कुंभ मस्तक धरी पधारी अहीं,
अहीं छलकी नव्य भारतनी काव्य गंगोत्तरी,
तृषार्त विभु देशचित्त परिप्लावयती धसी,
उरो उजड अंकुरावती सुधानी धारा हसी,
प्रमाद अवसाद दैन्य अवमान-ना कर्दमे
सहस्रदल पूर्णप्रस्फुटित पद्म अहीं ऊघड्यु,
डुवाडी फफडाट तुच्छ ववडाट तागी रह्यो
मनो गगन राजहंस, द्वय पंख खोली अहीं

अमारो कई वेदना, सुख कया न स्पर्श्यां-रस्यां
सुरोनी सुषमाथी तें, कवि ? अरण्यनी मर्मरो,
गभीर जळ बोल अणथ तणा, स्मितो व्योमना,
तणोनी अणप्रीछ गोष्ठि, जड लोककोलाहलो,
समीर-शिहरत मोल मदु हाफती छाती शा,
—लये अमर सौ श्वसे अव अनंतने अंतरे

२

स्रव्यो स्थविर हिंदना उरथी शब्द शो ताजगी-
भर्यो, द्युतिल देशदेश प्रति यात्री थै संचर्यो,
हजी नव समाप्त भारतकथा — कहेतो वधे,

रवीन्द्रनाथ

१

मस्तक पर लेकर अमृतकुंभ पधारी यहाँ ऊषा,
यही छलकी नव्य भारत की काव्य-गंगोत्री,
तृषार्त विभु देशचित्त को परिप्लावित करती बढ़ती,
बंजर उरो को अंकुरित करती सुधा की धारा हँस उठी।
प्रमाद अवसाद दैन्य अवमान के कर्दम मे खिला,
सहस्रदल पूर्ण प्रस्फुटित पद्म;
रोक कर फड़फडाहट तुच्छ बकवास, खोल कर दोनो पंख,
राजहंस ले रहा थाह मनो-गगन की।

हमारी किस वेदना को
कौन से सुखो को न किया छू कर रसान्वित
सुरों की सुषमा से तूने, कवि? —
अरण्यो की मरमर,
गभीर जलनिनाद अर्णव के,
व्योम के स्मित, तृणो की अज्ञात गोष्ठी,
जड लोक-कोलाहल,
हाँफती मृदु छाती-सी समीर से सिहरती फसले,—
अमर लय मे साँस लेते है सभी अब ये अनन्त के उर में।

२

स्थविर भारत के उर से स्रवित हुआ ताजा शब्द,
द्युतिमान यात्री होकर संचरा
देश देशान्तरो की ओर,
अब भी नही हुई समाप्त
भारतकथा, — कहता सर्वत्र।

हती तिमिर-भीस, —गीत, कवि, ताहरो उत्तर
वधे हृदयचित्त सकुचित बद्ध दीवालमा
सुरक्षित, — न पूव पश्चिम तु व्योमचारी गणे
न सस्कृति-अवाज, मूल अवतार विचर्यो बधे
रवी द्र, तव श्रेष्ठ काव्यकृति तारु उत्-जीवन

वह्यो शतक, आज शेष तव श द जीवत ते,
करे गरक शममा तव बुलद ए कठ कधा
पराभव विशेय, मुक्ति मही क्याथी कापण्य आ?
नवीनयुग विश्वमानव तणो ऊग्यो, ना दो तें
मलापी अव मुक्तिकठ अविशक गुजी रहो। ढूकडो
न माग शिवनो जगे अवर सत्य सौ दय ने प्रेमथी.

कलकत्ता जतां ७-५-१९६१

था निबिड़ तिमिर का दबाव,
हे कवि ! उसका उत्तर था तेरा गीत,
सर्वत्र संकुचित हृदयचित्त
थे सुरक्षित चार-दीवारी में बंद;
व्योमचारि तू रहा
पूर्व-पश्चिम के भेद से मुक्त।
तू नही केवल संस्कृति का स्वर
बल्कि, सर्वत्र विचरित उसका अवतार साक्षात्।
कवीन्द्र,
तेरी श्रेष्ठ कृति है — तेरा ही उत्-जीवन।

बीता शतक
आज शेष है तेरा शब्द जीवंत,
डुबो देता है हमें शर्म मे :
पराभव मे भी बुलंद वह तेरा कंठ कहाँ ?
और कहाँ इस मुक्ति मे हमारा यह कार्पण्य ?
उदित हुआ नया युग विश्वमानव का,
जिसकी नान्दी गाई तूने।
मुक्तिकंठ गूंज उठो अब अविशंक :
सत्य सौंदर्य और प्रेम के सिवा
विश्व मे नही है अन्य कोई निकट मार्ग शिव का।

कलकत्ता जाते, ७-५-१९६१

कलमने नर्मदनी प्रार्थना

[तारे खोळे छउ' – कवि नर्मदाशंकर
नवेम्बर २३, १८५८]

हे ब्रातर सारस्वत मूर्ति,
तमे ज जीवो, गम्यु तमोने
अही निवसवु मुजमा जो ना
भार पडे नाहक ससार तणो कई तम पर
ठाला विनयविवेक, वितथ उपचार,
अहम्नी आटी कंक, हठीला वेर, मुग्ध साफल्यज्ञानवा,
कीर्ति केरा नीर वलोणा,
राग-अरागना मत्युचुवी उछाळ निरतर,
उदर निमित्त आत्मा गीरवती महावचना,
— नडे न तमने कई ज मुक्त निबध क्षणेक्षण
जीवो, जीवो तमे ज मुजमा!
ने हु? हु तो अशेष जाडच सहरती वत्सल सदा तमारी
शक्तिना वहाळे खोळे छु

२३-११-१९५८

कवि नर्मद की प्रार्थना—कलम से ।

['...तेरी गोद मे हूँ ।'—कवि नर्मदाशकर
नवम्बर २३, १८५८]

हे आंतरिक सारस्वत-मूर्ति,
तुम्ही जीओ,
भाया है तुम्हें यदि मुझमें निवास करना ।
संसार का वृथा बोझ नही पड़ेगा तुम पर ।—
खाली विनय-विवेक,
वितथ उपचार,
अहम् की अनेक गुत्थियाँ,
हठी वैर,
मुग्ध साफल्य-मरीचिका,
कीर्ति के जल-मंथन,
राग-विराग की मृत्यु-चुम्बित सतत उछाल,
उदर निमित्त आत्मा को गिरवी रखती महावंचना—
कुछ भी नही होगा तुम्हे बाधक ।
मुक्त निर्बन्ध प्रतिक्षण
जीओ, जीओ तुम्ही मुझमे ।
और मै ?
मै तो
अशेष जडता की संहारक
सदा-वत्सल
तुम्हारी शक्ति की विशाल गोद मे हूँ ।

२३-११-१९५८

हिमाद्रिनी विदाय लेता १९५९

हु जाउ छु घेर, छताय जाणे
थतु मने क्या क जई रह्यो छु,
छोडी रह्यो ना घर होउ एम

हिमाद्रि हे! हिदजनोनी मोघी
छे आत्मलक्ष्मी तणु तु पियेर
तारा विनाना सहुये स्थळो ते
लाग्या करे शे उरने अणोसरा?
सोराय हैंयु तुजने स्मरीस्मरी
'आवीश', 'आवीश', – रटया करतु

जन १९५९

हिमाद्रि से विदा लेते : १९५९

जा रहा हूँ मैं घर, फिर भी
लग रहा मुझे कही जा रहा हूँ;
जैसे जा रहा हूँ छोड़ कर घर ।
हिमाद्रि हे ! हिदजनों की महँगी
आत्म-लक्ष्मी का तू है पीहर ।
तेरे बिना ये स्थल सभी
लगा करते हैं हृदय को उदास ?
छटपटाता हिया तेरे वियोग मे
रटा करता याद कर करके 'आऊँगा', 'आऊँगा' ।

जून, १९५९

गॉगल्स–आखो —

गॉगल्स-आखोनी नैर्व्यक्तिक नजर,
जाणे आखो चहेरो ज जोतो होय नही!
अधहसतो अधर,
बोलुबोलु थती भ्रमर,
समस्या समी ए दष्टि अधवच्चे तरी रही!

चद्र-गळी गयेला को श्याम मेघनो आकार
जायो हतो पेगवर जेवो एक राते रम्य,
मुखरेखा परे तेजधार
वर्ये जाणे कोई पर पार
थकी, एवो लागे आ गॉगल्स-च्हेरोये अगम्य
वास्को गोवा मे १९६२

गॉगल्स-आँखे –

गॉगल्स-आँखों की नैर्व्यक्तिक नजर,
मानो सारा चेहरा ही देखता न हो !
अधहँसता अधर,
बोलने को तत्पर भ्रमर,
समस्या-सी यह दृष्टि तैर रही अधबीच !

चंद्र को निगल गए किसी श्याम मेघ का आकार
देखा था पैगम्बर-सा एक रम्य रात में,
मुखरेखा पर तेजधारा
बरसती ज्यों किसी पर पार से
लगता वैसा ही यह गॉगल्स-चेहरा भी अगम्य।

वास्को, गोवा: मई, १९६२

हेमन्तनो शेडकढो –

हेमन्तनो शेडकढो तडको सवारनो
पीता हता पुष्प
पीता हता घासतृणो
हीराकणीशा हिमचक्षुए मृदु,
ने चक्षुनो
अबोल हैयाचमके कह्यो रह्या
  छे क्याय ग्लानि
  के लागणीनी असतोष अतितोष म्लानि ?
डोकु हलावी रही समतिमा
पुष्पो फोरे सौरभप्रश्न मूक
  पृथ्वी-जाया तोय प्रसन्न शा अमे !
  केम छो तमे ?

सरी गयो बाग थको त्वरा-भर्यो,
पूछुं रहू अनुभवी, नव होय जाणे
भोकाती शु स्वर्गजासूस पुष्पो
केरी आखो

१९५५

हेमन्त की धारोष्ण धूप

हेमन्त के प्रभात की धारोष्ण धूप
पी रहे थे पुष्प ।
पी रहे थे घासतृण
हीराकणी-से मृदु हिमचक्षु से;
और चक्षु की
अबोल हृदय-चमक से कह रहे थे :
है कहीं भी ग्लानि
या लगाव की असंतोष-अतितोष-म्लानि ?

ग्रीवा हिलाते संमति में
पुष्प महकाते सौरभप्रश्न मूक :
पृथ्वी-जात होने पर भी हम हैं कैसे प्रसन्न !
कैसे हैं आप ?

त्वरा से खिसक गया मैं बाग से,
और अनुभव कर रहा
पीठ पर चुभती हों ज्यों
स्वर्गजासूस पुष्पों की आँखें ।

१९५५

महा-वड

जटाजटिल जीर्णशीर्णवपु भव्य आ भारत,
महा-वड अडोल, के युगयपाट खातो खडा
हशे थड क्यु, क्ई ज वडवाईओ ? राफडा
अघोर रव फूफवे ! विकटदष्ट प्राणी क्ई
परस्पर प्रति शु हिंस्र धसता ? छळी ठोस्ता
घरा पर खरी, हणाय पशु, राक जीवात यें
पिलाय, जनमे–ग्मे थर परे थरो कारमा
उधेई रचती रमे सुकल मळजाळा ग्रसो

तथापि चडता अहो कहीयथी ज उर्वीरस
प्रफुल्ल करी डाळडाळ हसतो कुंपेरो परे,
वरेण्य सविता तणा किरणभग आमत्रता,
विहगकुल पणपुज मही जे लप्या तेहने
अनत नभगुजती ऋतऋचाथी ट्हौकावतो
अखड धृतिवत भारत श्वसत आ शाश्वत
१-८-१९५८

महावट

जटा-जटिल
जीर्णशीर्णवपु
भव्य यह भारत
महावट अकंप,
अनेक युग-थापे सहता खड़ा ।
तना कौनसा ?
वट की जड़-जटाएँ कौनसी ?
अघोर स्वर से फुत्कारते वल्मीक !
परस्पर हिंस्र आक्रमण करते
विकट-दंष्ट्र प्राणी !
चौक कर थपथपाते धरा पर खुर,
मारे जाते है पशु,
रंक जंतु पिचलते है, जन्म लेते है, मरते है ।
रचती है दीमक पर्त पर भयंकर पर्त
और खेलती है सूखी जड़ो को खाती ।

तो भी चढता है कही से उर्वीरस
डाली डाली को प्रफुल्लित करता
कोपलो पर हँसता,
वरेण्य सविता की पवित्र किरणो को आमंत्रित करता,
पर्णपुंजो मे छिपे हुए विहंगकुलों को
अनंत नभव्यापी ऋत-ऋचाओ से कूजित करता ।
अखंड धृतिवंत
शाश्वत भारत यह
साँस ले रहा ।

१-८-१९५८

शु शु साथे लई जईश हु ?

शु शु साथे लई जईश हु ?   कहु ?
लई जईश हु साथे
खुल्ला खाली हाथे
पृथ्वी परनी रिद्धि हृदयभर —
वसतनी म्हेकी ऊठेली उज्ज्वल मुखशोभा जे नवतर,
मेघल साजे वृक्षडाळीओ महीं झिलायो तडको,
विमळ ऊमटयो जीवनभर क्यो अढळक हृदय-उमळको,
मानवजाति तणा पगमा तरवरती क्रांति
अने मस्तके हिमाद्रिश्वेत झबकती शाति,
पशुनी धीरज, विहगना कलनत्य, शिलानु मौन चिरतन,
विरह धडक्तु मिलन, सदा मिलने रत सतन
तणी शात शीळी स्मितशोभा,
अधकारना हृदयनिचोड समी मदु कपित सौम्य
तारक्ति आभा,
प्रिय हृदयोनो चाह
अने पडघो पडतो जे 'आह !'
मित्रगोठडी मस्त, अजाण्या मानववधु
तणु वदी एकाद लूछेलु अश्रुबिन्दु,
निद्रानी ल्हेरखडी नानी—कहो, एक नानक्डो
स्वप्न-दावडो,
(स्वप्न थजा ना सफळ बधा अहोया ज)
—अहो ए वसुधाना रसरिद्धिभर्यो बस स्वप्न-साज !—
वधु लोभ मने ना,
वाळस्ना कई अनत आश-चमक्ता नेना
ल्ई जईश हु साथे   खुल्ला वे खाली हाथे
खुल्ला वे 'खाली' हाथे ?

२३-१२-१९५४

क्या-क्या साथ ले जाऊँगा मै ?

क्या-क्या साथ ले जाऊँगा मै ? कहूँ ?
ले जाऊँगा मैं साथ, खुले खाली हाथो मे
पृथ्वी पर की ऋद्धि हृदयभर—
वसन्त की महँकी-गमकी उज्ज्वल मुखशोभा नवतर,
वृक्षडालियों मे भरी मेघल शाम की धूप,
उमडा जीवनभर कोई राशि-राशि विमल हृदय-हुलास,
मानवजाति के पैर में झलकती क्रान्ति
और मस्तक पर हिमाद्रिश्वेत झिलमिलाती शान्ति,
पशु का धैर्य, विहंग के कलनृत्य,
शिला का मौन चिरंतन, विरह्–धडकता मिलन,
सदा-मिलन-रत संतजन की शान्त शीतल स्मितशोभा,
अंधकार के हृदयनिचोड़ सी मृदु कंपित
सौम्य तारकित आभा, प्रिय हृदयो की चाह
और प्रतिध्वनित जो ‘ आह ! ’
मित्रगोष्ठी मस्त, अनजान मानवबंधु का
क्वचित् एकाध पोछा हुआ अश्रुबिन्दु,
निद्रा की नन्ही-सी लहरी—
कहिए कि एक छोटी-सी स्वप्न-डिबिया
(न हो मेरे सभी स्वप्न सफल यही)
—अहो वह, वसुधा का रसऋद्धिभरा बस स्वप्न-साज !
अधिक लोभ नही मुझको,
बालक के कई अनंत आशा-दीप्त नयन
ले जाऊँगा साथ
खुले दो खाली हाथो मे ।
खुले दो ‘ खाली ’ हाथों मे ?

२३-१२-१९५४

श्री उमाशंकर जोशी

जन्मतिथि : २१-७-१९११

जन्मस्थल : बामणा (उत्तर गुजरात)

शिक्षा : बी. ए. (अर्थशास्त्र – इतिहास)
एम. ए. (गुजराती – संस्कृत)

रचना

कविता : विश्वशान्ति, गंगोत्री, निशीथ, प्राचीना, आतिथ्य, वसन्तवर्षा, महाप्रस्थान, अभिज्ञा

एकांकी : सापना भारा, शहीद

कहानी : श्रावणी मेळो, विसामो

उपन्यास : पारकां जण्यां

निबंध : गोष्ठी, उघाडी बारी

समीक्षा : अखो : एक अध्ययन, समसंवेदन, अभिरुचि, शैली अने स्वरूप, निरीक्षा, श्री अने सौरभ, कविनी श्रद्धा, प्रतिशब्द

शोध : पुराणोमां गुजरात, अखाना छप्पा

अनुवाद : शाकुन्तल, उत्तररामचरित, गुले-पोलाण्ड

संपादन : क्लान्त कवि (बालाशंकर), म्हारां सॉनेट (बलवंतराय), स्वप्नप्रयाण (हरिश्चन्द्र भट्ट), आनन्दशंकर ध्रुव के चार आलोचना-ग्रंथ (रा. वि. पाठक के साथ),

मासिक-पत्रिका संस्कृति (१९४७ से)

कार्यक्षेत्र : उन दिनों गुजरात विश्वविद्यालय के कुलपति

पता : सेतु, १२ सरदार पटेल नगर, अहमदाबाद–६